स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः ।



नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मासुप्रसीदति ॥

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक ।
भक्ति अधोक्षज की अहैतुकी विघ्नशून्य अति मंगलदायक ॥

सब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर ।
किन्तु हरि कथा-प्रीति न हो, श्रम व्यर्थ सभी, केवल बन्धनकर ॥

वर्ष २ | गौराब्द ४७०, मास—नारायण २८, वार—सङ्कर्षण सोमवार, ३० पौष, सम्वत् २०१३, १४ जनवरी १९५७ | संख्या ८

श्रीश्रीदशावतार-स्तोत्रम्

[श्रीजयदेव-विरचितम्]

प्रलयपयोधिजले धृतवानसि वेदं
विहितवहित्र-चरित्रमखेदम् ।
केशव धृतमीनशरीर जय जगदीश हरे ॥१॥

क्षितिरिह विपुलतरे तिष्ठति तव पृष्ठे
धरणिधरणकिण-चक्रगरिष्ठे ।
केशव धृतकूर्मशरीर जय जगदीश हरे ॥२॥

प्रलयकालीन समुद्रकी अगाध जलराशिमें विना प्रयास ही वाहक रूपमें वेद-भारका आपने वहन किया है । हे मीन शरीरधारी केशव ! हे जगदीश हरे ! आपकी जय हो ॥१॥

भूभार-वहनके चिह्नरूप अङ्कित चक्र-समूहसे गौरवान्वित आपकी अत्यन्त विशाल पीठपर भूमण्डल विराजमान है । हे कच्छपरूपधारी केशव ! हे जगदीश हरे ! आपकी जय हो ॥२॥

वसति दशनशिखरे धरणी तव लग्ना
शशिनि कलङ्ककलेव निमग्ना ।
केशव धृतशूकररूप जय जगदीश हरे ॥३॥

आपके दशनके अग्रभागमें पृथ्वी इस प्रकार अवस्थित है जैसे चन्द्रमें कलंक-रेखा । हे शूकररूपधारी केशव ! हे जगदीश हरे ! आपकी जय हो ॥३॥

तव करकमलवरे नखमद्भुतशृङ्गं
दलितहिरण्यकशिपुतनुभृङ्गम् ।
केशव धृतनरहरिरूप जय जगदीश हरे ॥४॥

आपके करकमलोंमें हिरण्यकशिपुके शरीरको विदीर्ण करनेवाले अत्यन्त तीक्ष्ण नख विराजमान हैं । हे नृसिंहरूपधारी केशव ! हे जगदीश हरे ! आपकी जय हो ॥४॥

छलयसि विक्रमणे बलिमद्भुतवामन
पदनखनीरजनितजनपावन ।
केशव धृतवामनरूप जय जगदीश हरे ॥५॥

हे विचित्र वामन ! आपने अपने पद-प्रक्षेपसे दैत्यराज बलिकी छलना की है । अपने पद-नख-सलिलसे अर्थात् भगवती गंगाके जलसे संसारको पवित्र करनेवाले हे वामनरूपधारी केशव ! हे जगदीश हरे ! आपकी जय हो ॥५॥

क्षत्रियरुधिरमये जगदपगतपापं
स्नपयसि पयसि शमितभवतापम् ।
केशव धृतभृगुपतिरूप जय जगदीश हरे ॥६॥

आपने क्षत्रियोंके शोणितरूप जलराशिमें जगत्को निष्पाप और भवताप-रहित कर स्नान कराया है । हे भृगुपतिरूपधारी केशव ! हे जगदीश हरे ! आपकी जय हो ॥६॥

वितरसि दिक्षु रणे दिक्पतिकमनीयं
दशमुख-मौलिबलिं रमणीयम् ।
केशव धृतरामशरीर जय जगदीश हरे ॥७॥

आपने रणाङ्गणमें दिक्पालोंके अभीष्ट और मनोहर दशानन रावणके दसमुण्डरूप उपहारको विभागकर दसों दिशाओंको वितरण किया है । हे रामरूपधारी केशव ! हे जगदीश हरे ! आपकी जय हो ॥७॥

वहसि वपुषि विशदे वसनं जलदाभं
हलहतिभीतिमिलित-यमुनाभं ।
केशव धृतहलधररूप जय जगदीश हरे ॥८॥

आपने अपने उज्वल शरीरपर हल के आघातके भयसे प्राप्त हुई यमुनाकी कान्ति जैसे मेघ-श्याम वस्त्रको धारण किया है । हे हलधररूपधारी केशव ! हे जगदीश हरे ! आपकी जय हो ॥८॥

निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातं
सदयहृदयदर्शित-पशुघातम् ।
केशव धृतबुद्धशरीर जय जगदीश हरे ॥९॥

अहो ! करुणहृदय ! आप पशुवध निर्देशक यज्ञीय वेद-मन्त्रोंकी निन्दा करते हैं । हे बुद्धशरीरधारी केशव ! हे जगदीश हरे ! आपकी जय हो ॥९॥

म्लेच्छनिवहनिधने कलयसि करवालम्
धूमकेतुमिव किमपि करालम् ।
केशव धृतकल्किशरीर जय जगदीश हरे ॥१०॥

म्लेच्छोंके विनाशके लिए धूमकेतु जैसी अतीव विकराल खड्गको आपने धारण किया है । हे कल्किरूपधारी केशव ! हे जगदीश हरे ! आपकी जय हो ॥१०॥

श्रीजयदेवकवेरिदमुदितमुदारं
शृणु सुखदं शुभदं भवसारम् ।
केशव धृतदशविधरूप जय जगदीश हरे ॥११॥

हे दशावतार रूपधारी केशव ! हे जगदीश हरे ! आपकी जय हो । हे मानव ! श्रीजयदेव कविके कीर्तित इस मनोहर सुखद कल्याणप्रद और संसारके सारस्वरूप स्तोत्रका श्रवण करो ॥११॥

वेदानुद्धरते जगन्ति वहते भूगोलमुद्बिभ्रते
दैत्यं दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते ।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते
म्लेच्छान्मूर्च्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः॥१२॥

वेदराशिके उद्धारकारी जगन्मण्डलके वहनकारी, भूमण्डलके उत्तोलनकारी, दैत्यको विदारणकारी, दैत्यराज बलिको छलनकारी, क्षत्रियोंके विध्वंसकारी, रावणके पराभवकारी, हलरूप अस्त्रधारी, करुणाराशि-के विस्तारकारी और म्लेच्छोंके विनाशकारी—इन दस प्रकारके रूपोंके प्रकाशकारी श्रीकृष्णचन्द्र स्वरूप आपको नमस्कार है ॥१२॥

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुर

परिचय

श्रीचैतन्य महाप्रभुके समसामयिक व्रजके सन्त-गोस्वामियोंके नाम बहुतोंको ज्ञात हैं । उनके अप्रकट कालमें उनके द्वारा बहाया गया शुद्ध भक्तिस्रोत श्री-निवास आचार्य, नरोत्तम ठाकुर और श्यामानन्द प्रभु-को आश्रय कर प्रबल वेगसे प्रवाहित हो रहा था । विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इन्हीं नरोत्तम ठाकुरकी शिष्य-परम्पराकी चौथी पीढ़ीमें हुए हैं ।

मध्यकालीन आचार्यके रूपमें श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुर

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय-के एक प्रतिभाशाली आचार्य हुए हैं । प्रत्येक गौड़ीय वैष्णव इनके सम्बन्धमें अवश्य ही थोड़ी-बहुत जान-कारी रखता है और बड़ी श्रद्धासे इनका नाम लेता है । जो लोग श्रीमद्भागवतकी आलोचना करते हैं, श्रीमद्भगवद्गीताका अध्ययन करते हैं तथा गोस्वामी-ग्रन्थोंका अनुशीलन करते हैं, वे श्रीविश्वनाथ चक्र-वर्त्तीके महान् व्यक्तित्व, असीम प्रतिभा और विराट पण्डित्यसे अवश्य ही परिचित होंगे । उनके ग्रन्थोंकी आलोचना करने पर उनके महान् दार्शनिक और रसज्ञ रूपकी झलक हमारे नेत्रोंके सामने स्पष्ट रूपसे झलकने लगती है । आज भी साधारण वैष्णवोंमें इनके रचित तीन ग्रन्थोंके सम्बन्धमें एक किम्बदन्ती प्रचलित है । वह किम्बदन्ती यह है—'किरण बिन्दु कण, इन तीनोंसे वैष्णवपना* ।' इनके सम्बन्धमें निम्नलिखित श्लोक भी सुप्रसिद्ध है—

विश्वस्य नाथरूपोऽसौ भक्तिवर्त्मप्रदर्शनात् ।
भक्तचक्रे वर्त्तितत्वात् चक्रवर्त्त्याख्ययाभवत् ॥

अर्थात् (अनाथ) विश्ववासियोंको भक्तिमार्ग दिखलानेके कारण ये विश्वनाथ हैं और भक्तोंकी मंडलीमें सर्वदा अवस्थित रहनेके कारण इनका नाम चक्रवर्त्ती है । विश्वनाथ चक्रवर्त्ती महोदय मधुर रस-के पारंगत रसिक चूड़ामणि भक्तराजके नामसे सुप्रसिद्ध थे । सचमुच ही वे वैसे थे भी । भगवद्बहिर्मुख जड़-रसिकोंने इन अप्राकृत रसिक प्रवरकी अप्राकृत भाव-

*इन तीनों ग्रन्थोंके पूरे नाम ये हैं—(१) उज्ज्वलनीलमणेः किरणलेशः; (२) श्रीभक्तिरसामृत सिन्धोर्बिन्दुः और (३) श्रीमद्भागवतामृतकणा ।

नावोंको समझनेमें भूलकर, उन्हें सहजियाकुल-भूषण-की उपाधि प्रदान की है तथा उन्हें अप्राकृत रस-समुद्र-से जबरदस्ती खींचकर प्राकृत रसके अन्धकूपमें ढकेलनेमें कोई कसर नहीं रख छोड़ी है। परन्तु वास्तविक रूपमें वे शुद्ध वैष्णव आचार्य हैं। उनके पाण्डित्यका फल गौड़ीय वैष्णवोंने जितना प्राप्त किया है उसका अनुमान नहीं किया जा सकता है।

कुल और गुरुका परिचय

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्तीका जन्म नदिया जिलेमें (पश्चिम बंगाल) राढ़ी श्रेणीके ब्राह्मण कुलमें हुआ था। किसी-किसीके मतानुसार इनका नाम हरिवल्लभ भी था। ये अपने तीन भाईयोंमें सबसे छोटे थे। बड़े भाइयोंका नामका रामभद्र और रघुनाथ था। लड़कपनमें देवग्राम नामक एक गाँवमें व्याकरणका अध्ययन समाप्त कर मुर्शिदाबाद जिलेके सैदाबाद ग्राम में गुरुके घर रह कर भक्तिशास्त्रोंका विधिवत् अध्ययन किया। इनके गुरुका नाम श्रीराधारमण चक्रवर्त्ती था। श्रीराधारमणजी गंगानारायण चक्रवर्त्तीके शिष्य श्रीकृष्णचरणके शिष्य थे।

व्रजधामके विभिन्न स्थानोंमें वास और ग्रन्थ-रचना

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्तीने अपने श्रीगुरुदेवका स्तोत्र, परमगुरुदेवका (दादागुरुका) स्तोत्र, परात्परगुरु-देवका स्तोत्राष्टक तथा परमपरात्पर गुरुदेवका स्तोत्रा-ष्टक लिखा है। ये स्तोत्र उनके रचित 'स्तवामृत लहरी' नामक ग्रन्थमें उनके अन्यान्य स्तोत्रोंके साथ संगृहीत हैं। व्रजके विभिन्न स्थानोंमें रह कर उन्होंने बहुतसे ग्रन्थोंका रचना की हैं। वर्त्तमान समयमें भी दो-चार दुष्प्राप्य ग्रन्थोंको छोड़कर उनके सभी ग्रन्थ वैष्णव-समाजमें बड़े आदरकी दृष्टिसे देखे जाते हैं। उनके ग्रन्थोंका अवलोकन करनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे कभी भी एक स्थायी जगह पर नहीं रहते थे। वे कभी श्रीगोवर्द्धनमें, कभी श्रीराधाकुण्डके तट पर, कभी यावटमें और कभी वृन्दावनके गोकुलानन्द पल्लीमें रहा करते थे।

समय-निर्णय

श्रीचक्रवर्त्ती ठाकुरका प्रकटकाल उनके रचित विभिन्न ग्रन्थोंके अन्तमें उन्हींके द्वारा लिखे गये समयोंके आधार पर निर्णय किया जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई सामग्री नहीं पायी जाती, जिसके आधार पर उनका समय ठीक-ठीक निर्णय किया जा सके। उन्होंने १६०१ शकाब्दकी फाल्गुनी पूर्णिमाके दिन 'श्रीकृष्ण भावनामृत' नामक ग्रन्थ समाप्त किया था तथा १६२६ शकाब्दके माघ महीनेमें उन्होंने श्रीमद्-भागवतकी 'सारार्थदर्शिनी' नामक टीका समाप्त की थी। अतएव लगभग १५६० शकाब्दमें उनका आविर्भाव काल और लगभग १६३० शकाब्दमें उनका तिरोभाव काल अनुमान करनेमें कोई बाधा नहीं है। इस प्रकार ७० वर्षकी अवस्था तक वे इस प्रपंचमें प्रकट थे।

परम्परा-परिचय

श्रीनरोत्तम ठाकुरके गंगानारायण चक्रवर्त्ती नामक एक शिष्य थे। ये बालूचर गांभिलाके निवासी थे। इनके कोई पुत्र न था, एक मात्र एक कन्या थी, जिसका नाम 'विष्णुप्रिया' था। श्रीरामकृष्ण भट्टाचार्य नामक एक वारेन्द्र ब्राह्मण भी श्रीनरोत्तम ठाकुरके एक और प्रसिद्ध शिष्य थे। इन्हीं भट्टाचार्यके छोटे लड़के श्रीकृष्णचरण ही विश्वनाथ चक्रवर्त्तीके दादा गुरु थे। सारार्थ-दर्शिनी टीकामें श्रीरास पञ्चा-ध्यायीके प्रारम्भकी टीकामें हम यह श्लोक देख पाते हैं—

श्रीरामकृष्णगंगाचरणान् नत्वा गुरुनुरुप्रेम्नः।
श्रील नरोत्तमनाथ श्रीगौराङ्ग प्रभुं नौमि॥

इस श्लोकसे जाना जाता है कि श्रीराधारमणका संक्षिप्त नाम श्रीराम, तथा श्रीकृष्णचरणका संक्षिप्त नाम श्रीकृष्ण था और 'नाथ' शब्दसे श्रीलोकनाथ गोस्वामीका निर्देश किया गया है।

चक्रवर्त्ती ठाकुर बहुत ही प्रतिभाशाली और प्रकांड विद्वान् थे। गौड़ीय-सम्प्रदायमें इनके जैसा संस्कृत भाषा में सुविस्तृत साहित्य सृजन करने वाले आचार्य कम

ही हुए हैं । इनके ग्रन्थोंकी भाषा अत्यन्त रोचक, बोधगम्य, सरस और प्रौढ़ है तथा उनकी शैली इतनी मनोरम है कि पाठक पदे-पदे मुग्ध हुए बिना रह नहीं सकते । अत्यन्त प्रौढ़ दार्शनिक सिद्धान्तोंके विवेचन के साथ सरस एवं मधुर भावोंका सुन्दर समिश्रण इनकी एक अपनी विशेषता है ।

इतना विशाल संस्कृत साहित्य सृजन करनेके अतिरिक्त भी इन्होंने गौड़ीय वैष्णव समाजके दो बड़े-बड़े उपकार किए हैं । श्रीनिवास आचार्यकी कन्या श्रीहेमलता ठाकुरानीजीने रूप कविराज नामक एक उदासीन शिष्यको गौड़ीय-वैष्णव समाजसे बहिष्कृत कर दिया था । वहाँसे निकाले जाने पर रूप कविराजने अतिवाड़ी नामक गौड़ीय-वैष्णव सम्प्रदायकी एक उपशाखाकी स्थापना की और गौड़ीय-वैष्णव-समाज-के विरुद्ध प्रचार करना आरम्भ कर दिया । उसने सिद्धान्त यह निकाला कि 'केवल गृहत्यागी व्यक्ति ही आचार्यका कार्य कर सकते हैं । गृहस्थ व्यक्ति इस कार्यके अधिकारी नहीं हैं अर्थात गृहस्थ व्यक्ति आचार्यका कार्य नहीं कर सकते ।' इन सिद्धान्तोंके अतिरिक्त वह विधिमार्गका अनादर कर विशृङ्खलता-पूर्ण राग-मार्गका भी प्रचार करने लगा । उसका कहना था कि—श्रवण और कीर्त्तनके सहयोगके बिना भी 'स्मरण' किया जा सकता है, जो पूर्व-पूर्व गोस्वामियोंके सिद्धान्तोंके सर्वतोभावेन प्रतिकूल है । विश्वनाथ चक्रवर्त्तीने श्रीमद्भागवतके तृतीय स्कन्धकी सारार्थ-दर्शिनी टीकामें इनका तीव्र प्रतिवाद किया है । इन्होंने उसमें यह दिखलाया है कि उन्होंने स्वयं इस विषयमें भी जीव गोस्वामीके 'भक्तिसन्दर्भ' के विचारोंका ही अनुसरण किया है ।

'गोस्वामी' उपाधि गुणका परिचय है, वंशका परिचय नहीं

जब रूप कविराज यह प्रचार करने लगा कि आचार्यवंशके या नित्यानन्द प्रभुके पुत्र श्रीवीरभद्रके शिष्यके वंशके अथवा श्रीअद्वैताचार्यके त्याज्य पुत्रोंके वंशोंके व्यक्तियोंको उनके शिष्यों द्वारा 'गोस्वामी' की उपाधि दिया जाना समीचीन नहीं है, तब श्रील चक्रवर्त्ती ठाकुरने युक्तियोंके आधार पर यह प्रमाणित कर दिया कि यदि उक्त वंशोंकी गृहस्थ सन्तानें योग्य हों तो उनके लिए आचार्यका कार्य असङ्गत नहीं है । परन्तु उन्होंने यह भी स्पष्ट करके बतला दिया कि वंश परम्पराके क्रमानुसार धन और शिष्य आदिके लोभसे आचार्यकुलमें उत्पन्न अयोग्य सन्तानोंके लिये अपने-अपने नामके पीछे 'गोस्वामी' शब्दका योग करना नितान्त अवैध है । इसीलिये आचार्यका कार्य करने पर भी उन्होंने स्वयं अपने नामके साथ 'गोस्वामी' शब्दका योग नहीं किया । उनका यह कार्य आचार्यों-की मूर्ख और विचार-शून्य सन्तानोंकी शिक्षाके निदर्शन-स्वरूप था ।

जिस समय आचार्योंकी सन्तानें अपने अपने नामोंके साथ 'गोस्वामी' शब्द लिख-लिख कर अपनी विचारहीनताका परिचय देनेके लिये उतावली हो रही थीं तथा शास्त्र-विमुख होकर वंश-परम्पराको अधः पतित कर रही थीं, उसी समय जयपुरके गलता नामक स्थानमें श्रीगोविन्दजीके मन्दिरमें श्रीरामानुज सम्प्रदाय के आचार्योंने गौड़ीय-वैष्णवोंके विरुद्ध एक घोर संग्राम आरम्भ कर दिया । जयपुर नरेशने श्रीवृन्दावन-के गौड़ीय वैष्णवाचार्योंको रूप गोस्वामीके अनुगत समझ कर उन्हें रामानुजी वैष्णवोंके साथ विचार-(शास्त्रार्थ) के लिये बुलाया । यह घटना १६१८ शकाब्दकी है । उस समय विश्वनाथ चक्रवर्त्ती अत्यन्त वृद्ध हो चले थे । इसलिये वे स्वयं जयपुर उपस्थित न हो सके; किन्तु उन्हींके परामर्शसे उनके छात्रतुल्य गौड़ीय वैष्णव वेदान्ताचार्य महामहोपाध्याय पण्डित-कुल चूड़ामणि श्रीबलदेव विद्याभूषण और उनके छात्र तथा विश्वनाथ चक्रवर्त्तीके शिष्य श्रीकृष्ण देवजी जयपुरकी विचार-सभामें उपस्थित हुए ।

जाति-गोस्वामीगण अब तक यह भूल गये थे कि वे श्रीमाध्व सम्प्रदायके ही अन्तर्गत हैं । उनके इस साम्प्रदायिक परिचयके विस्मृत होने तथा उनके द्वारा वैष्णव वेदान्तकी उपेक्षा किये जानेके कारण जो विपत्ति घिर आयी थी, उसके निराकरणके लिये श्रीबलदेव विद्याभूषण, गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायके

मतानुसार वेदान्तका एक स्वतंत्र भाष्यकी रचना करनेके लिये बाध्य हुए थे। उन्होंने श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरका अनुमोदन प्राप्त कर गौड़ीय-वैष्णव संप्रदायकी परम्परा-प्रथाका भी निराकरण किया था। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुर द्वारा वैष्णव धर्म प्रचारका यही द्वितीय कार्य था। विशेषकर अशौक ब्राह्मण कुलोद्भव (ब्राह्मणकुलसे अतिरिक्त दूसरे कुलोंमें उत्पन्न) वैष्णव आचार्योंके संस्कारके अनुमोदनका यह जाज्वल्यमान दृष्टान्त है।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्तीने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। उनके रचित ग्रन्थोंकी सूची जो हमें प्राप्त है, नीचे दी जा रही है—

(१) व्रजरीतिचिन्तामणि।
(२) श्रीचमत्कारचन्द्रिका।
(३) प्रेमसम्पुटं [खण्ड काव्यम्]
(४) गीतावली।
(५) सुबोधिनि [अलङ्कार कौस्तुभकी टीका]
(६) आनन्दचन्द्रिका [उज्ज्वलनीलमणिकी टीका]
(७) गोपालतापनी टीका।
(८) स्तवामृत लहरी।

इसमें निम्नलिखित स्तोत्र संगृहीत हैं—

१. श्रीगुरुतत्त्वाष्टकं, २. मन्त्रदातृ गुरोरष्टकं, ३. परमगुरोरष्टकं, ४. परात्परगुरोरष्टकं, ५. परमपरात्परगुरोरष्टकं, ६. श्रीलोकनाथाष्टकं, ७. श्रीशचीनन्दनाष्टकं, ८. स्वरूपचरितामृतम्। ९. स्वप्नविलासामृतं, १०. श्रीगोपालदेवाष्टकं, ११. श्रीमदनमोहनाष्टकं, १२. श्रीगोविन्दाष्टकं, १३. श्रीगोपीनाथाष्टकं, १४. गोकुलानन्दाष्टकं, १५. स्वयं भगवताष्टकं, १६. श्रीराधाकुण्डाष्टकं, १७. जगन्मोहनाष्टकं, १८. अनुरागवल्ली, १९. वृन्दादेव्यष्टकं. २०. श्रीराधिकाध्यानामृतं, २१. श्रीरूपचिन्तामणि, २२. नन्दीश्वराष्टकं २३. श्रीवृन्दावनाष्टकं, २४. गोवर्द्धनाष्टकं, २५. सङ्कल्पकल्पद्रुम (शतकं) २६. श्रीनिकुञ्जविरुदावली (विरुदकाव्य) २७ सुरतकथामृत (आर्यशतकं) १८. श्रीश्यामकुण्डाष्टकम्।

(९) श्रीकृष्णभावनामृतमहाकाव्यम्।
(१०) श्रीभागवतामृतकणा।
(११) उज्ज्वलनीलमणेः किरणलेशः।
(१२) श्रीभक्तिरसामृतसिन्धोर्बिन्दुः।
(१३) राग-वर्त्म-चन्द्रिका।
(१४) ऐश्वर्य-कादम्बिनी।
(१५) माधुर्य-कादम्बिनी।
(१६) भक्तिरसामृतसिन्धु टीका।
(१७) श्रीउज्ज्वलनीलमणि टीका।
(१८) दानकेलिकौमुदी टीका।
(१९) श्रीललितमाधव नाटक टीका।
(२०) श्रीविदग्धमाधव नाटक टीका।
(२१) श्रीचैतन्यचरितामृत टीका (असम्पूर्ण)
(२२) ब्रह्मसंहिता टीका।
(२३) श्रीमद्भगवद्गीता सारार्थवर्षिणी टीका।
(२४) सारार्थदर्शिणी (श्रीमद्भागवतकी टीका)

—ॐविष्णुपाद श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती

काम और प्रेम

काम प्रेम इन दुहुनके, न्यारे लक्षण जान।
ज्यों सुवर्ण अरु लोहकों, रूप विलक्षण भान॥
जो निज इन्द्रिय प्रीतिकी, चाह करै तिहि काम।
कृष्ण प्रीति अभिलाष कौं, धरैं प्रेम तिहि नाम॥

—श्रीचैतन्यचरितामृत

अत्याहार

श्रीमद्रूपगोस्वामीने स्वरचित 'उपदेशामृत' ग्रन्थ में लिखा है--

'अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमाग्रहः ।
जन सङ्गश्च लौल्यञ्च षड्भिर्भक्तिर्विनश्यति ॥'

(उपदेशामृत—२)

इस श्लोकका गूढ़ अर्थ विचार करना नितांत आवश्यक है। जो लोग विशुद्ध भक्तिके साधनमें लगना चाहते हैं, उनके लिए इस श्लोकके उपदेशोंका पालन करना बहुत ही जरूरी है। जो लोग इन उपदेशोंका पालन करनेमें शिथिलता करेंगे, उनके लिए हरिभक्ति अत्यन्त दुर्लभ है। हम उन निष्कपट साधकोंके लिए--जिनके हृदयमें भगवद्भक्ति प्राप्त करनेकी तीव्र आकांक्षा है—इस श्लोकका तात्पर्य स्पष्टकर लिख रहे हैं। इस श्लोकमें— (१) अत्याहार, (२) प्रयास, (३) प्रजल्प, (४) नियमाग्रह, (५) जन-संग और (६) लौल्य—इन छः प्रकारके भक्ति-बाधक विषयोंका उल्लेख किया गया है। हम क्रमशः इन विषयोंका पृथक्-पृथक् विवेचन करेंगे। इस क्षुद्र निबन्धमें केवल 'अत्याहार' शब्दका अर्थ विवेचन किया जा रहा है।

'अत्याहार' शब्दका अर्थ केवल अधिक भोजन ही नहीं है

'अत्याहार' शब्दका अर्थ केवलमात्रा 'अधिक भोजन' ही नहीं है। उपदेशामृत ग्रन्थके प्रथम श्लोकमें इस प्रकार लिखा गया है—

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं
जिह्वा-वेगमुदरोपस्थ-वेगम् ।
एतान् वेगान् यो विषहेत धीरः
सर्वामपीमां पृथ्वीं स शिष्यात् ॥

वाणीका वेग, मनका वेग, क्रोधका वेग, जिह्वा का वेग, उदरका वेग और उपस्थेन्द्रियका वेग--जो इन समस्त वेगोंको सह लेता है, विचलित नहीं होता, वह धीर पुरुष इस सम्पूर्ण पृथ्वी पर भी शासन कर सकता है। यहाँ जीह्वाका वेग—भोज्य वस्तुओंके आस्वादनकी स्पृहाको और उदर-वेग—अधिक भोजन की स्पृहाको निर्देश करते हैं। यदि द्वितीय श्लोकमें अत्याहार शब्दका भी अर्थ 'अधिक भोजन' ही माना जाय तो 'संक्षिप्त सार संग्रह' ग्रन्थमें द्विरुक्ति दोषकी संभावना हो पड़ती है। ऐसी अवस्थामें परम गंभीर श्रीरूप गोस्वामीके 'अत्याहार' शब्दका कोई दूसरा ही तात्पर्य है, जिसे अनुसंधान करना पाठकोंका कर्त्तव्य है।

'आहार' शब्दका मुख्य अर्थ भोजनसे ही है, इसमें संदेह नहीं, तथापि भोजन शब्दसे पाँचों इन्द्रियों द्वारा विषयोंके भोगका भी बोध होता है। चक्षु द्वारा रूप, कर्ण द्वारा शब्द, नासिका द्वारा गन्ध, जीह्वा द्वारा रस, और त्वचा द्वारा कोमलता, कठिनता, शीत और उष्ण आदि भोग अथवा भोजन किया जाता है। देहधारी जीवोंके लिए इन प्राकृत विषयों का भोग करना अनिवार्य है। विषयोंका भोग किये बिना जीवोंकी जीवन-यात्राका निर्वाह होना तक असंभव है। विषय-भोग त्याग करनेके साथ-ही-साथ जीवोंके शरीरका त्याग भी अनिवार्य है। इसलिए विषय-त्याग' की बात कोरी कल्पना भर ही रह सकती है, उसे वास्तविक कार्यके रूपमें परिणत नहीं किया जा सकता। ऐसी अवस्था में हमारा कर्त्तव्य क्या है ?

भक्तिके अनुकूल कर्म द्वारा जीविका निर्वाह करना ही हमारा कर्त्तव्य है

भगवान् अर्जुनको ऐसा करनेके लिए ही उपदेश दे रहे हैं—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥
(गी० ३।५-६)

—कोई भी मनुष्य किसी भी कालमें बिना कर्म किये नहीं रह सकता अर्थात् अशुद्ध चित्तवाला मनुष्य शास्त्रीय कर्मोंका त्याग कर देने पर भी प्रकृति-जनित गुणोंद्वारा उत्तेजित होकर परवस हुआ व्यवहारिक कर्मोंको करता रहता है। अतएव उसके लिए शास्त्रनिर्दिष्ट चित्तशोधक कर्मोंका त्यागकरना कर्त्तव्य नहीं है। जिसका चित्त अभी तक शुद्ध नहीं हुआ है, उसके द्वारा अपनी कर्मेन्द्रियोंका हठपूर्वक बाहरसे संयम कर लिये जानेसे भी क्या होगा ? वह कर्मेन्द्रियोंका संयम कर मन-ही-मन इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करता रहेगा । अतएव वह मूढ़ मिथ्याचारी कहलाता है।

जब कर्मके बिना देह-यात्राका निर्वाह होना भी असम्भव है, तब जीवन धारणके लिये उपयोगी कर्मोंका आचरण करना नितान्त कर्त्तव्य है। परन्तु वे ही कर्म अगर भगवद्भक्तिसे विमुख होकर किये जाँय तो बन्धनके कारण बन जाते हैं । अतएव जीवन-धारणोपयोगी कर्मोंको भी भगवद्भक्तिके अनुकूल कर लेने पर ही भक्तियोग होता है।

विषयोंको ग्रहण करनेकी विधि

भगवान् और भी कहते हैं—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥
(गी० ६।१६-१७)

नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन् ॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्त इति धारयन् ॥
(गीता ५।८-९)

[अर्थात्—यह योग न तो बहुत खानेवालेका, न तो बिलकुल न खानेवालेका, न बहुत सोनेवालेका और न बहुत अधिक जागनेवालेका ही सिद्ध होता है, बल्कि दुःखोंका नाश करनेवाला यह योग तो यथा-योग्य आहार-विहार करनेवालेका तथा यथायोग्य सोने-जागनेवालेका ही सिद्ध होता है । कर्मयोगी देखता, सुनता, स्पर्श करता, सूँघता, खाता, चलता, सोता, श्वास लेता, बोलता, त्यागता, ग्रहण करता, आँखोंको खोलता और मूँदता हुआ भी तत्त्वज्ञानके कारण ऐसा मानता है कि 'मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूँ।' यह शरीर ही सब कुछ कर रहा है, जिसमें मैं हूँ। अविद्या द्वारा बँधा हुआ मैं तो केवल इन कर्मोंका निर्धारण और मनन मात्र करता हूँ। आत्मयथात्म्य सिद्ध होने पर प्राकृत वस्तुओंके प्रति कर्त्तापन और भोक्तापनका भाव दूर हो जाता है।]

अत्यन्त अधिक भोजन करनेवाले, अत्यन्तकम भोजन करनेवाले, अधिक सोनेवाले, और कम सोनेवाले व्यक्तियोंका योग सिद्ध नहीं होता। किन्तु परिमित रूपमें आहार-विहार करनेवाले तथा परिमिति रूपमें सोने-जागनेवाले मनुष्योंका ही योग सिद्ध होता है। इसका तरीका यह है कि साधक ऐसी चिंता करें कि 'मेरी समस्त इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके अर्थों में (विषयोंमें) विचरण कर रहीं हैं । किन्तु मैं 'इनसे परे शुद्ध आत्मा हूँ।' इस प्रकार विवेकके साथ विषयोंको ग्रहण करना चाहिए।

कर्म और ज्ञानके परित्याग किये जाने पर ही भक्तियोग सिद्ध होता है

यद्यपि यह उपदेश ज्ञानके सम्बन्धमें ही अधिक उपयोगी प्रतीत होता है, तथापि यह भक्तिके अनुकूल भी हो सकता है। गीताके चरम श्लोकमें जो शरणागतिका उपदेश दिया गया है, उसे लक्ष्य कर कर्माङ्गों और ज्ञानाङ्गोंका परित्याग कर देना चाहिए तथा इन्द्रियोंके समस्त विषयोंको भगवान्का प्रसाद समझकर स्वीकार करना चाहिए । ऐसा होनेसे भक्तियोग सिद्ध होता है।

युक्त-वैराग्य और जीवन-यात्राकी विधि

अतएव श्रीरूप गोस्वामीने भक्तिरसामृतसिन्धुमें कहा है—

'अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपयुञ्जतः ।
निर्बन्धः कृष्ण-सम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते ॥
प्रापञ्चिकतया बुद्ध्या हरिसम्बन्धिवस्तुनः ।
मुमुक्षुभिः परित्यागो वैराग्यं फल्गु कथ्यते ॥
(भ० र० सि० १।२।१२५-२६)

[अर्थात्—कृष्णेतर विषयके प्रति आसक्तिरहित होकर एवं कृष्ण-सम्बन्धमें अतिशय प्रयत्नशील रह कर कृष्ण-सेवाके अनुकूल विषयोंको ग्रहण करनेका नाम 'युक्त-वैराग्य' है । 'मुमुक्षु' (मुक्ति का इच्छुक) व्यक्ति शास्त्र, श्रीमूर्ति, श्रीहरिनाम, महाप्रसाद, गुरु आदि हरि-सम्बन्धि वस्तुओंको भी पार्थिव वस्तु समझ कर उनका परित्याग करते हैं, इसीको 'फल्गु-वैराग्य' कहते हैं ।]

उक्त दोनों श्लोकोंका तात्पर्य रूप गोस्वामीने यहाँ 'अत्याहार-त्याग' शब्दसे प्रकट किया है । तात्पर्य यह है कि 'विषयोंको भोग करूँगा'—इस प्रवृत्तिसे विषयोंको ग्रहण करनेसे वह अत्याहार हो जाता है । किन्तु उन्हीं विषयोंको भगवत्प्रसाद समझकर भक्तिके अनुकूल परिमित रूपमें ग्रहण करनेसे वह अत्याहार नहीं होता । इन्द्रियोंके विषयोंको भगवत् प्रसाद मान कर सरलताके साथ स्वीकार करनेसे भक्तिपर्वमें उसीको 'युक्ताहार' कहते हैं। ऐसा होनेसे युक्त-वैराग्य सहज ही साधित हो जाता है । श्रीमन्महाप्रभुकी भी यही आज्ञा है कि—'अनासक्त होकर विषयोंका भोग करो और निरन्तर कृष्णनाम ग्रहण करो । उत्तम-उत्तम भोजन और आच्छादनके लिए यत्न न करो । स्वल्पायास द्वारा लब्ध पवित्र भगवत-प्रसाद ग्रहण करो'—यही भक्तोंकी जीवन-यात्रा निर्वाह करनेकी विधि है । प्रयोजनके अनुसार आहरण करना चाहिए । आवश्यतासे अधिक या कम आहरण अर्थात् संग्रह करनेसे साधक रसके वशीभूत होकर अपना परमार्थ गँवायेंगे और आवश्यकतासे कम । संग्रह करनेसे भजनोपयोगी इस शरीरकी भी रक्षा न कर पायेंगे ।

उपदेशामृतके प्रथम श्लोकमें—जीह्वा और उदरके वेगोंको सहनेके लिए जो उपदेश दिया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि प्राकृत (मायाबद्ध) मनुष्य क्षुधासे कातर होकर अथवा खानेकी अच्छी-अच्छी वस्तुओंको सामने देखकर अत्यन्त व्यग्र होकर खानेके लिए दौड़ता है, यह एक प्रकारका प्राकृत वेग है । जब साधकके हृदयमें ऐसा वेग प्रबल हो तो भक्तिके विचारोंसे उसका शीघ्र ही दमन कर देना चाहिए । फिर द्वितीय श्लोकमें—जो अत्याहार त्याग करनेका उपदेश दिया गया है वह भक्तिसाधनका एक नित्य नियम है । प्रथम नैमित्तिक है और द्वितीय नित्य है ।

गृही और गृहत्यागियोंके अत्याहार पृथक्-पृथक् हैं

इसमें एक और बात है । गृही और गृहत्यागी व्यक्तियोंके लिए अत्याहारके सम्बन्धमें पृथक्-पृथक् विचार हैं । कुटुम्बके भरण-पोषणके लिए गृहस्थ व्यक्ति आवश्यकतानुसार संचय कर सकता है तथा इस धर्म-संचित और धर्मोपार्जित द्रव्यको खर्च कर भगवान् और भागवतोंकी सेवा, कुटुम्ब भरण, अतिथि-सत्कार तथा अपना जीवन-निर्वाह कर सकता है । गृही व्यक्तियोंको संचय और उपार्जनका अधिकार रहने पर भी आवश्यकतासे अधिक अर्थ संग्रह करनेके लिए प्रयत्न करने पर भक्तिके साधनमें और कृष्ण की कृपा प्राप्तिमें बाधा पड़ती है । वैसा अधिक संचय तथा उपार्जन करना—दोनों अत्याहार हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं । रही गृहत्यागी साधकोंकी बात, उन्हें कभी भी संचय नहीं करना चाहिए । प्रतिदिन जो भिक्षा मिले, उससे सन्तुष्ट न होने पर उन्हें अत्याहारका दोष लगता है । अच्छी-अच्छी वस्तुओं को पाकर आवश्यकतासे अधिक भोजन करना भी अत्याहार दोषके अन्तर्गत है । इसीलिए गृही और गृहत्यागी—दोनों प्रकारके वैष्णव साधक अत्याहार का यथायथ विचार करके उस दोषसे दूर रह कर कृष्णका भजन करेंगे । ऐसा करनेसे वे शीघ्र ही कृष्ण की कृपा लाभ कर सकते हैं ।

— ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर

गीताकी वाणी

आठवाँ अध्याय

सातवें अध्यायके उपसंहारमें भगवान् कृष्णने अर्जुनको यह बतलाया है कि ब्रह्म,अध्यात्म,कर्म,अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके साथ भगवान्‌के समग्र तत्त्वको जाननेवाले भक्त प्रयाण कालमें भी भगवान्‌को विस्मृत नहीं होते । अर्जुन इन पूर्वोक्त पदोंका तथा प्रयाणकालमें भगवान्‌को जाननेकी बातका रहस्य भलीभाँति न समझनेके कारण आठवें अध्यायके प्रारम्भमें भगवान्‌से इनके यथार्थ तत्त्वकी जिज्ञासा करते हैं ।

ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है ? अधिभूतका अर्थ क्या है ? अधिदैव किसको कहते हैं ? इस देहमें अधियज्ञ कौन है ? वह इस शरीरमें कैसे हैं ? और युक्त चित्तवाले पुरुषों द्वारा अन्तिम समयमें आप किस प्रकार जाननेमें आते हैं ?—ये ही अर्जुनके प्रश्न हैं । भगवान श्रीकृष्ण इन प्रश्नोंका यथायथ उत्तर प्रदान करते हैं ।

अक्षर-वस्तुको अर्थात् जन्म और मृत्युसे परे, अवस्थान्तरशून्य जीवात्म-चैतन्यको यहाँ 'ब्रह्म' कहा गया है । कोई-कोई 'ब्रह्म' शब्दसे 'परम ब्रह्म' को लक्ष्य करते हैं । किन्तु गीताके पन्द्रहवें अध्यायमें 'यस्मात् क्षरमतीतोऽयम्' श्लोकमें अक्षरसे भी अतीत ब्रह्मको ही 'पुरुषोत्तम' कहा गया है । जीवात्माके स्वभावको अध्यात्म कहा गया है । प्राणियोंके जन्म आदिका हेतु ही—कर्म है । छान्दोग्य उपनिषद्‌में यज्ञादिकर्मोंके द्वारा जीवोंके शरीरकी उत्पत्तिके संबंधमें इस प्रकार कहा गया है—द्यु:, मेघ, पृथ्वी, पुरुष और योषित (स्त्री)—इन पाँचों प्रकारकी अग्नियोंमें श्रद्धा, सोम, वृष्टि, अन्न और रेत: (शुक्र)—इन पाँच प्रकारकी आहुति दिये जाने पर इस शरीरकी उत्पत्ति होती है । जीव इस लोकमें जलीय पदार्थ दधि आदि द्वारा श्रद्धापूर्वक होम करता है । उसकी मृत्युके बाद देवता लोग उस श्रद्धापूर्वक दी गयी आहुतिको 'द्यु' नामक अग्निमें होम करते हैं । उससे सोम (चन्द्र) रूप धारण कर जीव चन्द्रलोकमें गमनकर अपने शुभ कर्मोंका फल भोग करता है । उसके पश्चात् जलीय शरीर पर्जन्य (मेघ) रूप अग्निमें आहुति दिये जाने पर वह वर्षाके साथ पृथ्वी रूप अग्निमें पतित होता है । फिर वह क्रमसे (धान-चावल आदि) अन्नके रूपमें परिणत होता है । अन्नको पुरुषरूप अग्निमें आहुति दिये जाने पर अर्थात् पुरुषद्वारा अन्न खाये जाने पर वह शुक्रके रूपमें बदल कर स्त्रीके गर्भमें पहुँचता है, जहाँसे मनुष्यादि शरीरोंकी उत्पत्ति होती है । तात्पर्य यह है वेदोक्त विधिसे अग्निमें दी हुई आहुति सूर्यमें स्थित होती है, सूर्यसे वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न होता है और अन्नसे प्रजाकी सृष्टि होती है ।

उत्पत्ति और विनाशधर्मवाले समस्त पदार्थ अधिभूत हैं । समष्टिरूप विराट पुरुष ही 'अधिदैव' कहलाता है तथा इस शरीरमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित परमात्मा ही अधियज्ञ हैं । जो पुरुष अन्तकालमें परमात्माको स्मरण करता हुआ शरीरको त्याग देता है, वह अवश्य ही भगवद्‌भावको प्राप्त होता है । पापरहित, जराशून्य, मृत्युरहित, शोकशून्य, हिंसारहित, पिपासारहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प—इन आठ प्रकारके गुणोंका आविर्भाव होना ही 'ब्रह्म-भाव' की प्राप्ति है ।

मनुष्य अन्तकालमें जिस भावको स्मरण करता हुआ अथवा जिस विषयकी चिन्ता करता हुआ शरीर-

का त्याग करता है, वह अगले जन्ममें उसीके अनुरूप पुनः शरीर प्राप्त करता है । इसका ज्वलंत उदाहरण राजर्षि भरत हैं । विराट ऐश्वर्य, धन-सम्पत्ति, स्त्री-पुत्र और बन्धु-बान्धवोंकी मोह-ममताको लात मार कर राजर्षि भरत महलोंसे निकल पड़े और एक गम्भीर वनके बिल्कुल निर्जन-प्रान्तमें एक सरिताके सुहावने तटको अनुकूल देखकर वहीं भगवद्भजनमें लग पड़े । दुर्भाग्य ही कहिये, एक दिन एक गर्भिणी हरिणीने, पीछा करते हुए भयंकर बाघके डरसे आश्रमके समीप ही नदीको पार करनेके लिये जोरोंसे छलांग मारी और नदीके बीचों-बीचमें अपने गर्भको गिराती हुई दूसरे किनारे पर सदाके लिये अचेतन होकर गिर पड़ी । इधर सद्यजात असहाय मृगशावक नदीकी धारामें डूबता-उतरता अपने जीवन-मरणके साथ खेल रहा था । राजर्षि इस करुण दृश्य-को देखकर अब और ठहर न सके, जल्दीसे दौड़कर निर्बोध मृग-शावकको उठा लिया और आश्रममें लाकर उसका पालन-पोषण करने लगे । कुछ दिनोंके बाद कुछ बड़े होने पर राजर्षिकी ममताका पुत्तला—वह मृग-शावक एक दिन हरिण-मण्डलीके साथ छलांगे भरता हुआ जो चला गया, फिर कभी नहीं लौटा । भरत रात-दिन उसीकी चिन्तामें व्यस्त । उसी समय उनका अन्तकाल भी आ पहुँचा । मृग-शावक-की चिन्ता करते-करते शरीरको त्यागकर वे मृग-योनिको प्राप्त हुए । यही नहीं, कंस, शिशुपाल, दन्तवक्र आदि असुरलोग भी शत्रुतामूलक निरन्तर भगवत्-स्मरण जन्य भगवत्सारूप्य-मुक्तिको प्राप्त हुए थे । मनुष्य जीवित अवस्थामें सदा-सर्वदा बार-बार दीर्घकाल तक जिस भावका चिन्तन करता है—जीवनमें अत्यन्त आसक्त होकर जिस विषयकी चिन्ता करता है, मृत्युके समय भी वह उसी भावका चिन्तन करता है और उसी अन्तिम चिन्तनके अनुरूप ही उसे शरीरकी प्राप्ति होती है । इसीलिये करुणावरुणालय भगवान् यह उपदेश देते हैं कि—"जीवोंको सदा-सर्वदा नित्यकाल मेरा ही स्मरण करना चाहिये । युद्ध आदि समस्त कार्योंको मेरी स्मृतिके साथ करनेसे उनकी कोई दुर्गति नहीं होती ।"

यद्यपि विषयोंमें फँसे हुए लोगोंके लिए ऐसा करना अत्यन्त कठिन है, तथापि अभ्याससे—भगवत् कथाके श्रवण-कीर्तन और भगवत्-सेवामें निमग्न रहनेसे उनका चित्त सहज ही भगवत्भावसे भावित हो जाता है । फिर तो वह चित्त किसी दूसरी ओर भूल कर भी नहीं देखता । इस प्रकार निरन्तर भगवत् चिन्तन करते-करते उसे भगवत् सारूप्यकी प्राप्ति होती है । जो मनुष्य सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियन्ता, सूक्ष्मसे भी अति सूक्ष्म, सबका धारण-पोषण करने वाले, अचिन्त्यरूप, ज्योतिर्मय और प्रकृतिसे अति परे शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमेश्वरका स्मरण करता है, वह अन्तकालमें भी योगबलसे भृकुटिके मध्यमें प्राणको भलीभाँति स्थापित कर निश्चल मनसे स्मरण करता हुआ उस दिव्यस्वरूप परम पुरुष परमात्माको ही प्राप्त करता है । यहाँ योगियोंको भक्ति प्राप्त करनेके लिए कुछ-कुछ योगाभ्यासका भी उपदेश देते हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि—इस अष्टांगयोगका साधन करनेसे जो सिद्धि लाभ होती है, उससे क्रमशः परमात्माका सान्निध्य तक प्राप्त होता है । किन्तु कलियुगमें मनुष्योंका चित्त नाना-प्रकारसे विक्षिप्त रहता है । इसलिए भगवान् श्रीचैतन्यदेवने जीवोंके लिए कालोपयोगी युगधर्म हरिसंकीर्त्तनका ही एकमात्र उपदेश दिया है—"हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् । कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥"—अर्थात हरिनाम ही कलियुगी जीवोंका एकमात्र मुख्य-साधन है । इसके अतिरिक्त अन्यान्य साधनोंसे सद्गति प्राप्त करना असंभव है । श्रीकविराज गोस्वामी उक्त श्लोकके बंगानुवाद (पद्य) में कहते हैं—

दाख्यलागि 'हरेर्नाम'—उक्ति तिन बार ।
अदलोक बूझाइते पुन 'एव'—कार ॥
'केवल'—शब्दे पुनरपि निश्चय करण ।
ज्ञान, योग, तप आदि कर्म—निवारण ॥
अन्यथा जे माने, तार नाहिक निस्तार ।
'नाहि' 'नाहि' 'नाहि'—तिनठ क 'एव' कार ॥

भावार्थ यह कि दृढ़ताके लिए 'हरिनाम' शब्दका तीन बार प्रयोग किया गया है। प्राकृत बुद्धि-सम्पन्न लोगोंको समझानेके लिए ही 'एव' (निश्चय ही) शब्द का प्रयोग किया गया है। 'केवल' शब्दका प्रयोग इस बातको सूचित करता है कि ज्ञान, योग, तप और कर्म—ये सब साधन कलियुगके उपयोगी साधन अवश्य ही नहीं हैं। अन्तमें 'नास्त्येव' 'नास्त्येव' 'नास्त्येव' के साथ 'एव' शब्दका प्रयोग यह भाव व्यक्त करता है कि जो लोग इस बात पर विश्वास नहीं करते उनका उद्धार होना वर्षाकी बूंदोंको पकड़ कर आकाशमें जानेकी तरह असंभव है।

वेदज्ञ व्यक्ति जिस 'ओंकार' शब्दको ब्रह्म प्राप्तिका अभिधेय अर्थात् उपाय-स्वरूप वर्णन करते हैं, आसक्ति-रहित प्रयत्नशील संन्यासी महात्माजन जिस प्रणव-स्वरूप ब्रह्ममें लीन होनेका प्रयत्न करते हैं, जिसके लिए ब्रह्मचारी लोग ब्रह्मचर्यका विधिवत् पालन करते हैं तथा जिसके लिए समस्त प्रकारकी तपस्याएँ की जाती हैं, उस परम-पदको प्राप्त करनेका उपाय बतलाते हैं—

समस्त इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे रोक कर, मनको हृदेशमें स्थिर कर, प्राण-वायुको दोनों भ्रुवोंके बीच स्थापन कर अन्तकालमें आत्म-समाधि द्वारा जो ओंकार उच्चारण करते करते भगवान्‌को स्मरण करता हुआ शरीर त्याग करता है, वह परम-गति लाभ करता है। ओंकार भगवान्‌का असम्प्रसारित श्रेष्ठ नामस्वरूप है। भगवान् श्रीचैतन्यदेवने उन्हींके सम्प्रसारित रूप 'हरे कृष्ण' महामन्त्रका उपदेश कलि-हत जीवोंके उद्धारके लिये किया है। 'कलि संतरण' उपनिषदमें देवर्षि नारदके प्रश्नोंके उत्तरमें ब्रह्माजीने तारक-ब्रह्म महामन्त्रका ही उपदेश किया है।

जो लोग अनन्य चित्तसे भगवान्‌को निरन्तर स्मरण करते हैं उन्हें सहज ही भगवत्प्राप्ति हो जाती है। भगवत्प्राप्तिके बाद क्लेशजनक अनित्य पुनर्जन्म-का अभाव हो जाता है। चतुर्दश भुवनमें रहने वाले सभी प्राणी जन्म और मृत्युके अधीन हैं, ब्रह्मलोकमें भी उन्हें जन्म मृत्युके हाथोंसे रक्षा नहीं मिलती। दूसरे लोगोंकी बात ही क्या, स्वयं ब्रह्माकी भी एक निश्चित आयु होती है और उस आयुके शेष होते ही उनका भी शरीर छूट जाता है। परन्तु सनातन भगवान्‌के चरणोंकी प्राप्ति होने पर जन्म-मृत्युके चक्करमें पुनः प्रवेश नहीं करना पड़ता।

अब ब्रह्माकी परमायुका परिमाण बतलाकर उनकी भी अनित्यता प्रमाणित करते हैं तथा भगवद्धामकी नित्यता निरूपण कर भगवद्धाम प्राप्तिके बाद पुनर्जन्मका अभाव प्रदर्शित करते हैं। कलि, द्वापर, त्रेता और सत्य—इन चारोंयुगोंको मिलाकर चतुर्युग कहते हैं अर्थात् एक चतुर्युगमें कलियुग ४३२००० वर्ष + द्वापर ८६४००० वर्ष + त्रेता १२९६००० वर्ष + सत्ययुग १७२८००० वर्ष = ४३२०००० वर्ष होते हैं। ऐसे हजार चतुर्युगोंका अर्थात् हमारे ४३२०००००००० (चार अरब बत्तीस करोड़) वर्षोंका ब्रह्माका एक दिन होता है और इतनी ही बड़ी उनकी रात्रि होती है। ऐसे तीस दिन-रातोंका ब्रह्माका एक महीना, ऐसे बारह महीनोंका एक वर्ष और ऐसे १०० वर्षोंकी ब्रह्म-की परमायु होती है। इसके बाद ब्रह्माका पतन हो जाता है। इस तरह जब ब्रह्माका शरीर ही अनित्य ठहरता है तब उनके लोकमें रहने वाले प्राणियों तथा उनके द्वारा सृष्टि किये गये लोकोंके रहनेवाले प्राणियोंके शरीर अनित्य हों, इसमें तो कहना ही क्या है? ब्रह्माके निद्राकालमें समस्त प्राणी नाम-रूपसे रहित अव्यक्त अवस्थामें अवस्थित रहते हैं, उनके दिनमें व्यक्त होते हैं तथा उनके रात्रिकालमें पुनः अव्यक्त कारणमें लीन हो जाते हैं। इस प्रकार प्राणी-समूह बार-बार जन्म-मृत्युके वश हुआ आवा-गमनके चक्रमें घूम रहा है और उनका वह आवागमन रूप जन्म-मरणका चक्र तब तक बन्द नहीं होता, जब तक कि वे भगवान्‌के अभय चरणोंमें शरण नहीं ले लेते—भगवान्‌का परमधाम प्राप्त नहीं कर लेते। इस परम धामको जीवोंकी जड़इन्द्रियोंसे परे होनेके कारण ही अव्यक्त अथवा अक्षर कहा गया है।

जिस परमात्माके अन्तर्गत सर्वभूत अवस्थित हैं और जो कारणरूपसे विश्व-ब्रह्माण्डमें सर्वत्र व्याप्त है,

उस परम पुरुषकी प्राप्तिका एकमात्र उपाय है—अनन्य भक्ति । यहाँ पर "एकमात्र अनन्य भक्तिसे ही प्राप्त होते हैं" वाक्यसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कर्म, ज्ञान, योग आदि साधनों द्वारा भगवान्‌को पाया नहीं जाता ।

भक्तिद्वारा परम पुरुषकी प्राप्तिकी बात बतलाकर अब उन दो मार्गोंका वर्णन करते हैं जिन पर चलकर योगीजन क्रमशः वापस न लौटनेवाली गति और वापस लौटनेवाली गति प्राप्त करते हैं । ब्रह्मवेत्ता व्यक्ति मृत्युके पश्चात् अग्नि, ज्योति, अहः, शुक्लपक्ष और उत्तरायणके छः मास—इनके अभिमानी देवताओंका अनुगमनकर देवयान पथसे ब्रह्मलोक जाते हैं । इस मार्गको अर्चिरादि मार्ग भी कहते हैं । इस मार्गसे जानेवाले व्यक्ति अर्चिः आदि बारह देवताओं द्वारा सेवित होकर क्रमशः उर्ध्वलोकमें ले जाये जाते हैं और अन्तमें किसी अमानव द्वारा ब्रह्मलोकमें ले जाये जाते हैं । वहाँ पहुँच जानेके बाद जन्म-मरणके चक्करसे छुटकारा मिल जाता है । परम भक्त भीष्मजी की मृत्यु दक्षिणायण कालमें उपस्थित होनेपर भी उन्होंने शरशय्या पर ही उत्तरायणकालके लिये प्रतीक्षा-कर उत्तरायणकाल उपस्थित होने पर ही शरीर-त्याग किया था । यद्यपि दक्षिणायणमें अपकट होनेपर भी उनकी असद्गति नहीं होती प्रत्युत् भगवद्भक्त होनेके नाते उन्हें उस समय भी भगवद्धामकी ही प्राप्ति होती, तथापि उन्होंने अपने पिताके आशीर्वादसे इच्छा-मृत्यु रूप वर प्राप्त होनेके कारण लौकिक गतिविधिका अनुसरण कर उत्तरायणकालमें ही शरीर त्याग किया था ।

धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायणरूप छः महीनेके अभिमानी देवताओंके मार्गसे मर कर गया हुआ सकाम योगी क्रमशः इन देवताओं द्वारा धूम्र-यान अर्थात् पितृयान पथसे चन्द्रलोक ले जाया जाकर वहाँ कुछ दिनोंतक अपने शुभ कर्मोंका फल भोग कर पुनर्जन्म लाभ करता है । छान्दोग्य उपनिषद्‌में इस विषयका स्पष्टरूपमें उल्लेख है—जो लोग ग्रामोंमें गृहस्थरूपमें वासकर अग्निहोत्रादि यज्ञ, कुँआ-तालाब खुदवाना आदि सत्कर्म करते हैं, सत्पात्रोंको शक्तिके अनुसार दान देते हैं, वे मृत्युके बाद धूमाभिमानी देवताको प्राप्त होते हैं । अनन्तर रात्रि-देवता, कृष्ण-पक्ष देवता, दक्षिणायण-देवता, पितृलोक आकाश और चन्द्रलोकको प्राप्त होते हैं । वहाँ कुछ दिनोंतक अपने शुभकर्मोंका फल भोगकर, कर्मफल शेष होते ही पुनर्जन्म लाभ करते हैं । इस प्रकार शुक्ल और कृष्ण, या देवयान और धूम्रयान अथवा आलोकयान और अन्धकारयान नामक दो मार्ग हैं । पहले मार्गसे जाने-से पुनर्जन्म नहीं होता और दूसरे मार्गसे जानेपर पुनर्जन्म होता है । जो इन दोनों मार्गोंको तत्त्वसे जान लेते हैं, वे मोहित नहीं होते । शास्त्रोंमें वेद-अध्ययन, यज्ञ, तप और दान आदिके जिन पुण्यफलों-का वर्णन किया गया है, योगीपुरुष भक्तोंके संगमें उनका स्वरूप उपलब्धि कर उन सब तुच्छ कार्योंमें मनोनिवेश न कर भगवद्भक्ति द्वारा भगवद्धामको प्राप्त होते हैं ।

—त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिभूदेव श्रौती महाराज

—●—

श्रीव्रजभजन-प्रणाली

तन्नाम-रूप-चरितादि-सुकीर्त्तनानु-स्मृत्योः क्रमेण रसनामनसी नियोज्य ।
तिष्ठन् व्रजे तदनुरागि-जनानुगामी कालं नयेदखिलमित्युपदेशसारम् ॥

—(साधु और शास्त्रों द्वारा निरूपित) क्रमके अनुसार श्रीकृष्णके नाम, रूप, चरितादिकोंके कीर्तन, और स्मरणमें रसना और मनको लगा दे—जिह्वासे श्रीकृष्णके नाम, रूप, चरितादिकोंका कीर्त्तन करता रहे और मनसे उनके नाम, रूप, चरितादिकोंका स्मरण करता रहे तथा श्रीकृष्णके प्रेमी भक्तोंका अनुगत (दास) होकर व्रजमें निवास करते हुए अपने जीवनके सम्पूर्ण कालको व्यतीत करे । यही सारे उपदेशोंका सार है ।

श्रीचैतन्यदेव

पावन पद पङ्कज सुमिर, शिवनन्दन सिधि खान ।
चरित चारु चैतन्य कौ, बिरचौं सुख धन दान ॥१॥

फूलनसौं फलनसौं नवल दल बेलिनसौं,
बागन बिभागनकी आभा अभिराम है ।
शङ्कर सुहाने सर सरित सलिल भरे,
सुरसरि स्वरूप ताँ अति ही ललाम है ॥
धनी मानी नारी नर नित ही निवास करैं,
रहत रत भक्तिमें सब अविराम हैं ॥
लीलाके हेत जहँ (योग) मायापति जनम लेत,
माया सौं अतीत वो माया पुर धाम है ॥२॥

मित्र पुरन्दर बसत है, ता माया पुर धाम ।
शशि सी शचि उरमें बसी, रूप अनूप ललाम ॥३॥

जन्मी कन्या आठ तिन, गईं कालके गाल ।
विश्वरूप सम अन्तमें, प्रकटे ससि सम बाल ॥४॥

पन्द्रह सौ व्यालीस बरस, पूनम फागुन मास ।
कुल ससि सङ्ग सुचि सोमके, उदित भये सुख रास ॥५॥

सोरह कला सों इति वाकी नित मानी जाय,
सकल कलित कलान यामें प्रमानिये ।
शङ्कर सुधाकी निधि निहचै बखाने वाहि,
रूप सुधा हेर हेर हिय हुलसाइये ।
कहत निशानाथ मित्र सौं बिलग रहत,
दूर होत निशा यासौं मित्र सचुपाइये ॥
चारु चाँदनी कौ चाँद नीकौ अवनी कौ कहैं,
विविध, विचारौ पर थाह नहि पाइये ॥६॥

(क्रमशः)

—शङ्करलाल चतुर्वेदी बी० ए०; साहित्यरत्न

ब्रज यात्राके कुछ संस्मरण

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्द माधवम्॥

जिनकी कृपा गूंगेको वाचाल बना देती है तथा पंगुको पर्वत पार करा देती है, उन परमानन्दस्वरूप माधवकी मैं वन्दना करता हूँ। ऐसे परम दयालु भक्तवत्सल सर्व-तंत्र-स्वतंत्र स्वयं भगवान् व्रजेन्द्र-नन्दनके लीला चरित्र अनन्त हैं, जिनका अन्त अनन्त मुखवाले स्वयं अनन्तदेव भी नहीं पाते, तब एक क्षुद्र जीव उसे कैसे वर्णन कर सकता है, पर गुरुकृपा द्वारा कुछ दिग्दर्शन मात्र ही संभव है।

संसारमें मनुष्य नाना-प्रकारसे उलझा हुआ जीवन यापन करता है। जीवन एक विषम पहेली है। यदि मानव बाह्यजगत्में न पैठ कर अन्तर्जगत्में प्रवेश करे, तो वह इस जटिल समस्याको सुलझाना चाहेगा। उसे भान होगा कि वह एक साधारण वस्तु नहीं, परन्तु एक महान् सत्ताकी अणु झलक है और उस महान् सत्तासे अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लेनेके कारण ही वह नाना प्रकारके सुख-दुखोंके दल-दलमें फँसा हुआ पुनः-पुनः जन्म-मरण अङ्गीकार करता है।

जीव अपनी विद्या-बुद्धि और बलपर भरोसा कर जितना ही इस विषम पहेलीको समझनेकी कोशिश करता है, वह उतना ही अधिक उलझता जाता है। परन्तु जब उसे अपनी क्षुद्रताका अनुभव हो जाता है, जब उसके हृदयमें भगवान्के प्रति दृढ़ विश्वास पैदा हो जाता है, तो करुणावरुणालय भगवान् उसके हृदयमें अन्तर्यामी गुरुके रूपमें आविर्भूत होकर उसका उद्धार कर देते हैं अथवा अपने प्रिय भक्तोंका संग उसके लिए सुलभ कर देते हैं—

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवे
ज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ,
परावरेशे त्वयि जायते मतिः॥
(श्रीमद्भा० १०।५१।५४)

—जीव अनादिकालसे जन्म-मृत्युरूप संसारके चक्करमें भटक रहा है। जब उस चक्करसे छूटनेका समय आता है तब उसे सत्सङ्ग प्राप्त होता है। यह निश्चय है कि जिस क्षण सत्सङ्ग प्राप्त होता है, उसी क्षण संतोंके एकमात्र आश्रय और पराव-रेश्वर स्वरूप भगवान् श्रीकृष्णमें जीवकी बुद्धि अत्यन्त दृढ़ता से लग जाती है।

श्रद्धालु जीव दो प्रकारसे अन्तर्जगत्में प्रवेश कर सकता है—भगवान्की सीधी कृपासे अथवा भगवद्भक्तोंकी कृपासे। यद्यपि भक्तोंकी कृपा भी भगवत्कृपाके अन्तर्गत है और भगवत् कृपा भी भक्तोंमें होकर ही जगत्में वितरित होती है, फिर भी जब हम इनका पृथक्-पृथक् विवेचन करते हैं, तब जीवनरूप विषम पहेलीको सुलझानेके लिये भगवद्भक्तोंकी कृपा अर्थात् सत्सङ्गकी प्राप्ति ही साधारण-विधि है। इसीलिए जड़ भरत सत्सङ्गको भगवत्तत्त्व-ज्ञानकी प्राप्तिका एकमात्र कारण निरूपण करते हुए राजा रहूगणको उपदेश दे रहे हैं—

रहूगणैतत्तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा।
नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै-
र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥
(श्रीमद्भा० ५।१२।१२)

—रहूगण। महापुरुषोंकी चरण-धूलिसे अपने को नहलाये बिना केवल तप, यज्ञादि वैदिक कर्म, अन्नादिके दान, अतिथिसेवा आदि गृहस्थोचित धर्मानुष्ठान, वेदाध्ययन अथवा जल, अग्नि या सूर्य की उपासना आदि किसी भी दूसरे साधनसे यह भगवत्तत्व-ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। भक्त

प्रह्लादजीने भी--अपने पिता हिरण्यकशिपु द्वारा यह पूछे जाने पर कि उसे वैसी बुद्धि कहाँसे प्राप्त हुई है?— बतलाया है —

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रि
स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः ।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं
निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत् ॥

(श्रीमद्भा० ७।५।३२)

भावार्थ यह कि संसारी लोग अजितेन्द्रिय होते हैं । इसलिये वे इस दुःखपूर्ण संसारमें प्रवेश कर चबाये हुए विषयोंको बार-बार चबाते हुए घोर नरककी ओर तेजीसे बढ़ते जाते हैं । ऐसे गृहासक्त मनुष्योंकी बुद्धि अपने-आप अथवा अपने ही जैसे लोगोंके संगसे परमार्थ विषयमें अर्थात् श्रीकृष्णमें नहीं लगती । जो लोग अकिंचन भगवत्प्रेमी महात्माओंके चरणकी धूलिमें स्नान नहीं करते उनकी बुद्धि काम्यकर्मोंका पूरा सेवन करने पर भी भगवच्चरणोंका स्पर्श नहीं कर पाती ।

उक्त शास्त्र वचनोंकी समीक्षा करने पर निष्कर्ष यह निकलता है कि परमार्थ जगत्में प्रवेश करनेके लिए सर्वप्रथम भगवत्कृपा अथवा भक्तकृपाकी नितांत आवश्यकता है। गुरुदेव ही सर्वप्रधान भक्त हैं। यहाँ तक कि शास्त्रोंमें उनको साक्षात् हरि भी कहा गया है । गुरुदेव साक्षात् हरि ही हैं' का तात्पर्य यह नहीं कि गुरुदेव विषय जातीय भगवान् हैं, प्रत्युत् ये आश्रयजातीय सेवक-भगवान् हैं। साधक इन्हीं शब्द-ब्रह्म अर्थात् वेदमें पारंगत और पर-ब्रह्ममें निष्णात् श्रीगुरुदेवके निकट सम्बन्ध-ज्ञान (भगवत्तत्त्वादि-ज्ञान) का उपदेश श्रवण कर तथा भगवत्प्राप्तिरूप अभिधेय (उपाय) की शिक्षा प्राप्तकर जीवनका सर्वोच्च फल भगवत्प्रेम लाभ करता है ।

यों तो सद्गुरुकी कृपा प्राणीमात्र पर समानरूपसे वर्षित होती है, परन्तु पात्रके तारतम्यसे उनकी दयाका भी तारतम्य लक्षित होता है । सूर्य अपना प्रकाश सर्वत्र समानरूपमें वितरण करता है, परन्तु सूर्यकान्तमणि उस प्रकाशको सर्वाधिक अंशोंमें ग्रहण करती है । अतएव श्रद्धा और भक्तिके तारतम्यानुसारही गुरुकृपा अथवा भगवत्-कृपा प्राप्त होती है। भगवान् एकमात्र अनन्य श्रद्धा और भक्तिद्वारा ही प्राप्त होते हैं । उन्हें प्राप्त करनेका बस एक ही उपाय है—अनन्य भक्ति—'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः' । योग, साधन, ज्ञान-विज्ञान, धर्मानुष्ठान, जप-पाठ, और तप-त्याग उनको प्राप्त करनेमें उतने समर्थ नहीं, जितनी उनकी अनन्य भक्ति । इसलिए भगवान् अपने प्रियतम भक्त अर्जुनको अपना चरम उपदेश देते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

—अर्जुन ! तू सबधर्मोंका परित्यागकर एकमात्र मेरी शरणमें आ जा । मैं तुझे सारे पापोंसे मुक्तकर दूँगा । शोक मत कर ।

भगवान् समस्त धर्मोंको छोड़कर अपनी शरणमें आनेके लिए क्यों उपदेश देते हैं ? इसका कारण यह है कि अखिल प्राणी भगवान्में अवस्थित हैं और भगवान् भी अखिल प्राणियोंमें उनकी अन्तरात्माके रूपमें विराजमान है । अतः जब कोई जीव भगवान्की सेवा करता है तो भगवान्के सन्तुष्ट होने पर निखिल विश्वकी संतुष्टि अपने-आप साधित हो जाती है ।

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन
तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः ।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां
तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या ॥

(श्रीमद्भा० ४।३१।१४)

—जिस प्रकार वृक्षकी जड़ सींचनेसे उसके तना, शाखा, उपशाखा आदि सभीका पोषण हो जाता है और जैसे भोजनद्वारा प्राणोंको तृप्त करनेसे समस्त इन्द्रियाँ तृप्त होती हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्णकी पूजा करनेसे समस्त देवताओंकी पूजा हो जाती है ।

तात्पर्य यह कि जीवनकी पहेलीको सुलझानेके लिए अथवा दूसरे शब्दोंमें भगवत्प्राप्तिके लिए सत्संगमें भक्तिका साधन करना नितान्त आवश्यक है ।

धाम परिक्रमा भक्तिका एक अन्यतम अङ्ग है। परन्तु यदि धाम परिक्रमा साधु-सङ्गमें श्रवण और कीर्त्तनके साथ हो, तभी वह सुष्ठु होती है। ब्रजधाम सब धामोंके धामस्वरूप हैं। ब्रजधाम और ब्रजेश-नन्दन श्रीकृष्णमें कोई अन्तर नहीं। भौतिक दृष्टिसे इस धामको एक साधारण नगर, ग्राम वन और उपवनके रूपमें दर्शन करते हैं, परन्तु वास्तवमें धाम भौतिक जगत्‌से परे पूर्ण चिन्मय होते हैं। वहाँ की प्रत्येक वस्तु पशु-पक्षी, वृक्ष, लता, गुल्म, नद, नदी, पर्वत और तो क्या, वहाँकी एक-एक धूलिकण-भी चिन्मय होती है। मायाबद्ध जीव चिन्मय धामका दर्शन नहीं कर सकता। परन्तु भक्त या भगवान्‌की कृपासे जब माया जीव-स्वरूपके ऊपरसे अपने अविद्या-के आच्छादनको समेट लेती है, तब वह मुक्त जीव भक्तिके द्वारा प्राप्त हुए अपने प्रेम-नेत्र से चिन्मय धामका दर्शन करता है।

ब्रज धामकी महिमा अनंत है। यह प्रियाजीका राज्य है। ब्रज-रसमें पगे हुए संतोंके आनुगत्यमें इस राज्यका दर्शन करनेसे श्रद्धालु जीव ब्रज-भावसे ओत-प्रोत होकर शरीरकी सुध-बुध बिसार देता है। उसके स्मरण-पथ पर भगवत् लीलाएँ स्वतः उदित होने लगती हैं। वह कहाँ विचरण कर रहा है?—ब्रजमें, जो सर्वतंत्र-स्वतंत्र अवतारी पुरुष नन्दनन्दनकी सर्वोच्च क्रीड़ाओंकी स्थली है, जिसके विरहमें स्वयं नंदनन्दनने अत्यन्त व्याकुल होकर उद्धवसे जो कुछ कहा था, उसे सूरके शब्दोंमें सुनिये—

ऊधौ! मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं।
हंस-सुता की सुन्दर कगरी अरु कुञ्जन की छाँहीं॥
वै सुरभी, वै बच्छ दोहनी, खरिक दुहावन जाहीं।
ग्वाल बाल सब करत कुलाहल, नाचत गहि-गहि बाँहीं॥
यह मथुरा कंचन की नगरी, मनि मुक्ताहल जाहीं।
जबहिं सुरति आवति वा सुख की जिय उमगत तन नाहीं॥
अनगन भाँति करी बहु लीला जसुदा नन्द निबाहीं।
सूरदास प्रभु रहे मौन ह्वै, यह कहि-कहि पछिताहीं॥

और भी देखिये, जहाँ शक्ति शक्तिमानके प्रेममें सुध-बुध बिसार कर उसीका वेश धारण करनेके लिये आतुर है—

तुम भूषन प्रभु हमरे पहरौ, मैं तुम्हरे पहिराऊँ।
तुम पहरौ मेरी चन्द्रलताकों मैं सिर मुकुट धराऊँ॥
मानी मान करो प्रभु मेरे मैं तोरे चरन मनाऊँ।
'सूर' श्याम प्रभु तुम बनो राधे, मैं नंदलाल कहाऊँ॥

जहाँ पर भक्त अपना सर्वस्व न्योछावर करनेके लिये प्रस्तुत रहता है—

एक रवि रेनुका पै, चिन्तामनि वार डारूँ,
वार डारूँ विश्व सेवा-कुञ्ज के विहार पै।
लतन के पतन पै कोटि कल्प वार डारूँ,
रम्भा कों वार डारूँ, गोपन के द्वार पै॥
ब्रज की पनिहारिन पै रती शची वार डारूँ,
बैकुण्ठ को वार डारूँ कालिन्दी की धार पै।
कहत कवि 'अभयराम' इक प्रियाजीको जानत हूँ,
सब देवन को वार डारूँ इक नन्द के कुमार पै॥

और की तो बात ही क्या, ब्रजकी चूड़ी (जमादारनी) भी मुक्ति तकको ठोकर मारती है। चूड़ी द्वारा अवहेलित और तिरस्कृत होने पर मुक्तिने पूछा—'क्यों री! तू मुझे इतना हेय क्यों समझती है? देव, दनुज, ऋषि, मुनि, योगी, मेरी एक कटाक्षके लिये लालायित रहते हैं—जन्म-जन्म प्रयत्न करते हैं, किन्तु तू मेरी ओर जरा देखती तक क्यों नहीं?' चूड़ी बोली—'अरी बावरी! मुझे प्रलोभन मत दे। तुझे पता नहीं, मैं प्रियाजी सेवा करती हूँ, जिसकी तू किंकरीमात्र है?—

'वृन्दावनकी चूड़ी, चली मुक्ति ठुकराय।
कारण कौन री बावरी, श्रीराधा मैल कमाय॥'

यह ऐसा ही देव दुर्लभ ब्रजधाम है जिसकी प्राप्तिके लिये मुक्ति भी मुक्तसे उपाय पूछती है—

'मुक्ति पूछे 'मुक्त से' मेरी मुक्ति बताय।
वृन्दावनके पात-पात श्रीराधे राधे गाय॥'

—अरी! वृन्दावनके पत्ते-पत्ते श्रीमती राधारानी-का गुणगान करते हैं। उसीको श्रवण कर, उसीका कीर्त्तन कर, और उसीका सेवन कर, यही यथार्थ मुक्ति है। (क्रमशः)

—श्रीसुशीलचन्द्र त्रिपाठी एम० ए०; साहित्यरत्न

जैव-धर्म

नित्यधर्म और संसार

[पूर्व प्रकाशित वर्ष २, संख्या ६-७, पृष्ठ ५४८ से आगे]

यादवदास—'भाई चण्डीदास ! तुम्हारे प्रश्नका उत्तर मिल गया तो ?'

चण्डीदास—'आज मैं धन्य हो गया । परम पूजनीय बाबाजी महाराजके उपदेशोंका मैंने यह भावार्थ समझा है कि—जीव कृष्णका नित्यदास है। किन्तु अपराधवशतः अपने इस नित्य कृष्णदासत्वको भूल कर स्थूल और लिङ्ग—इन दो मायिक शरीरोंको आश्रय करता हुआ मायाके गुणोंको अङ्गीकार कर वह जड़ वस्तुओंमें सुख-दुख भोग रहा है। अपने कर्मोंका भोग करनेके लिए उसने अपने गलेमें जन्म-मृत्युकी माला पहन रखी है। कभी उच्च और कभी नीच योनियोंमें जन्म लेकर कर्म-फलके अनुरूप नये-नये अहंकारोंमें नाना प्रकारकी अवस्थाएँ प्राप्त करता है। क्षणभंगुर भौतिक शरीरमें भूख-प्यास आदिके द्वारा नाना प्रकारके कर्मोंको करनेके लिए बाध्य होता है। तरह-तरहके अभावोंकी कल्पना करके अत्यन्त दुःखी हो पड़ता है। भाँति-भाँतिके रोग शरीरको सर्वदा जर्जरित करते हैं। घरमें स्त्री-पुत्रके साथ कलह कर कभी-कभी आत्महत्या तक कर बैठता है। धनके लोभसे न जाने कितने ही पापोंको करता है। राजदण्ड, लोकापवाद, लोकापमान और कितने ही प्रकारके शारीरिक क्लेशोंको भोगता है। आत्मीय-वियोग, धननाश, चोरी और डकैती द्वारा अपहरण आदि तरह-तरहके दुःख तो नित्य-प्रति लगे ही रहते हैं। वृद्ध होने पर घरके लोग सेवा नहीं करते—इससे कितना दुःख होता है। कफकी अधिकता, बातके वेग और दर्दसे वृद्ध शरीर केवल दुखका कारण हो पड़ता है। मरने पर पुनः गर्भकी असह्य पीड़ा सहनी पड़ती है। फिर शरीर रहते-रहते काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि प्रबल होकर विवेकको आच्छादित कर देते हैं। अब मैं संसारका वास्तविक अर्थ समझ गया। मैं बाबाजीके चरणोंमें बार-बार दण्डवत् प्रणाम करता हूँ। वैष्णव जगत्के गुरु हैं। वैष्णवोंकी कृपासे आज मैं संसारका यथार्थ ज्ञान लाभ कर सका हूँ।'

अनन्तदास बाबाजी महाशयके सदुपदेशोंको श्रवणकर सभी लोग एक स्वरसे 'साधु ! साधु !! कहने लगे। अबतक वहाँ बहुतसे वैष्णव एकत्रित हो चुके थे। सबने मिलकर लाहिड़ी महाशयका एक पद कीर्त्तन करना आरम्भ किया। चंडीदास कीर्त्तन करते-करते आनन्दमें विभोर होकर नृत्य करने लगे। उन्होंने समस्त बाबाजी लोगोंके चरणोंकी धूलि लेकर अपने मस्तक पर धारण कर रोते-रोते जमीन पर लोटने लगे।

सभी लोग एक स्वरसे बोल उठे—'चंडीदास बड़े भाग्यवान हैं।'

कुछ देर बाद यादवदास बाबाजीने कहा—'चंडीदास ! चलो, हमलोग पार चले।'

चण्डीदासने हँसकर उत्तर दिया—'आप पार करें, तो मैं भी पार होऊँ।'

दोनों प्रद्युम्न कुञ्जको साष्टाङ्ग दण्डवत प्रणाम कर विदा हुए। कुञ्जसे बाहर निकलते ही दमयन्तीको प्रणाम करते देखा। वह इन लोगोंको प्रणाम कर कहने लगी—'हाय ! मैंने स्त्री-जन्म क्यों पाया ? यदि मैं पुरुष होती तो अनायास ही इस कुंजमें जाकर वैष्णवोंका दर्शन करती तथा उनकी-चरण-रज मस्तक पर धारण कर पवित्र होती। काश ! मैं जन्म-जन्म

इस नवद्वीपमें वैष्णवोंका दास होती और उनकी सेवा कर जीवन सार्थक करती।'

यादवदास--'अहो! यह गोद्रुमधाम महान पुण्यमय भूमि है। यहाँ आते ही जीव शुद्ध-भक्ति लाभ करते हैं। यह गोद्रुम हमारे प्राणेश्वर शचीनन्दनकी क्रीड़ास्थली--गोपपल्ली है। इस तत्त्वको हृदयङ्गम करके ही श्रीश्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीने प्रार्थना की है-

न लोक-वेदोदित-मार्गभेदैः
आविश्य संक्लिश्यते रे विमूढ़ाः।
हठेन सर्वं परिहृत्य गौड़े
श्रीगोद्रु मे पर्णकुटीं कुरुष्वम्॥
(श्रीनवद्वीपशतक-३६)

—अरे मूढ़ (जीव)! तू लोक और वेदका आश्रय कर नाना प्रकारके धर्मोंका आचरण करने पर भी दुखी हो रहा है। अब इन अनिश्चित मार्गोंको छोड़कर शीघ्र-शीघ्र श्रीगोद्रुममें अपनी पर्णकुटी निर्माण करो।'

इसी तरह परस्पर हरिकथा कहते-सुनते तीनों आदमी गङ्गाको पारकर धीरे-धीरे कुलिया लौट आए। उसी दिनसे चण्डीदास और उनकी पत्निमें एक प्रकार का अद्भुत वैष्णव-भाव प्रकाश पाने लगा, मानो मायाका संसार उन्हें बिलकुल ही स्पर्श न कर रहा हो। वैष्णव-सेवा, सदा कृष्णनाम कीर्त्तन और सब जीवोंपर दया--उनका भूषण बन गया। धन्य वणिक दम्पत्ति! धन्य वैष्णव कृपा!! और धन्य श्रीनवद्वीपभूमि!!!

आठवाँ अध्याय

नित्य-धर्म और व्यवहार

एक दिन गोद्रुमके वैष्णवगण श्रीगोराङ्गदके दक्षिण-पूर्वी किनारे बनवासी वैष्णवोंके कुंजमें प्रसाद-सेवनके उपरान्त एकत्रित हुए। लाहिड़ी महाशयने एक भक्तिपूर्ण पद सुनाकर वैष्णवोंके हृदयको व्रज-भावसे ओत-प्रोत कर दिया।

पदकी समाप्ति पर कुछ वैष्णवजन गौरलीला और कृष्णलीलाकी एकता पर विचार करने लगे। उसी समय बड़गाछीसे आए हुए कुछ सज्जनोंने पहले गोराङ्गदको और उसके उपरान्त वैष्णवोंको साष्टांग प्रणाम किया। वैष्णवोंने आगन्तुकोंका यथोचित सम्मान किया। उस कुंजमें एक बहुत ही पुराना वटका वृक्ष था जिसके नीचे एक पक्का चबूतरा था। लोग इस वटवृक्षको बड़ी श्रद्धापूर्वक 'निताई वट' कहा करते थे, क्योंकि नित्यानंद प्रभुजी इस वट-वृक्षके नीचे बैठना बहुत ही पसन्द करते थे।

वट-वृक्षके नीचे वैष्णव साधुओंकी एक खासी सभा जम गयी। धीरे-धीरे परस्पर हरिकथा होने लगी। इसी बीच बड़गाछीके एक नवागन्तुक युवक सहसा बोल उठे—'मेरा एक प्रश्न है। आप लोग मेरे प्रश्नका यथोचित उत्तर देकर मुझे अनुगृहीत करें।'

निभृत कुंजके हरिदास बाबाजी विज्ञ एवं गम्भीर विद्वान् थे। उनकी अवस्था भी लगभग १०० वर्ष की थी। इन बाबाजीने नित्यानन्द प्रभुको भी अपनी आँखोंसे उसी वट-वृक्षके नीचे बैठते देखा था। उनकी स्वयंकी भी ऐसी ही हार्दिक इच्छा थी कि उनका निर्याण उसी वट-वृक्षके नीचे हो। उन्होंने नवागन्तुक युवककी बात सुनकर कहा--'जहाँ परमहंस बाबाजी की सभा बैठी हो, वहाँ तुम्हें अपने प्रश्नोंके उत्तरके लिए तनिक भी आशंका न होनी चाहिए।'

नवागन्तुकने बड़े ही नम्र शब्दोंमें जिज्ञासा की — 'वैष्णव-धर्म नित्यधर्म है; जो लोग इस धर्मका आश्रय लेते हैं, उनका अन्य लोगोंके साथ कैसा व्यवहार होना उचित है?'

नवागन्तुकका प्रश्न सुनकर हरिदास बाबाजीने वैष्णवदास बाबाजीकी ओर मुड़ते हुए कहा—'वैष्णवदासजी! इस समय बङ्गभूमिमें तुम्हारे समान

विद्वान् और श्रेष्ठ वैष्णव कोई भी नहीं है। तुमने सरस्वती गोस्वामीका सङ्ग किया है तथा परमहंस बाबाजीसे शिक्षा प्राप्त की है। तुम बड़े सौभाग्यशाली और महाप्रभुके कृपापात्र हो। अतः इस प्रश्नका उत्तर तुम्हें ही देना चाहिए।'

वैष्णवदास बाबाजीने विनीत भावसे कहा—'महात्मन्! आपने साक्षात् बलदेवजीके अवतार श्रीनित्यानन्द प्रभुका दर्शन किया है और न जाने कितने ही लोगोंको शिक्षा देकर उन्हें परमार्थ राज्यमें प्रवेश कराया है। आज हमलोग भी आपकी मुखनिःसृत उपदेश-वाणीका श्रवण करना चाहते हैं।'

सभी लोगोंने वैष्णवदास बाबाजीकी बातका समर्थन किया। हरिदास बाबाजी उनलोगोंका अनुरोध टाल न सके। अगत्या वे उस प्रश्नका उत्तर देनेके लिए तैयार हो गए। उन्होंने वट वृक्षके नीचे श्रीनित्यानन्द प्रभुको दण्डवत्-प्रणाम कर कहना आरम्भ किया—

'जगत्में जितने जीव हैं उन सबको मैं कृष्णदास समझ कर प्रणाम करता हूँ। कोई माने अथवा न माने, सभी उनके दास हैं। यद्यपि निखिल जीव श्रीकृष्णके स्वतःसिद्ध दास हैं तथापि जो अज्ञानवश या भ्रमवश अपनेको कृष्णदास नहीं मानते, वे एक श्रेणीके लोग हैं और जो उनकी दासता स्वीकार करते हैं, वे दूसरी श्रेणीके। इस तरह जगत्में दो प्रकार के लोग हैं—एक बहिर्मुख और दूसरे अन्तर्मुख या कृष्णोन्मुख। संसारमें कृष्ण-बहिर्मुख लोग ही अधिक हैं। ये लोग धर्म स्वीकार नहीं करते। ऐसे लोगोंके सम्बन्धमें कुछ कहना या न कहना बराबर है। इनमें कर्त्तव्याकर्त्तव्यका तनिक भी विवेक नहीं होता। अपना सुख और स्वार्थ ही इनका सर्वस्व होता है। जो लोग धर्म स्वीकार करते हैं उनमें कर्त्तव्य अकर्त्तव्यका विवेक होता है। ऐसे कर्त्तव्यपरायण मनुष्योंके लिये मनुजीने कहा है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय-निग्रहः।
धीर्विद्या-सत्यमक्रोधो दशकं धर्म-लक्षणम्॥

अर्थात् धृति (सन्तोष), क्षमा (सामर्थ्य रहते हुए भी दूसरोंद्वारा किये गए अपकारोंके बदले अपकार न करना), दम (विकारका कारण उपस्थित होनेपर भी मनकी अविकृत अवस्था), अस्तेय (चोरी), शौच, इन्द्रिय-निग्रह (इन्द्रियोंको विषयसे हटाना), धी (शास्त्र आदिका तत्त्वज्ञान), विद्या (आत्मज्ञान), सत्य, अक्रोध (क्रोधका कारण उपस्थित होने पर भी क्रोध न करना)—ये दस धर्मके लक्षण हैं।

इनमें धृति, दम, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, और विद्या—ये छः तो अपने प्रति कर्त्तव्य हैं, बाकी क्षमा, अस्तेय, सत्य और अक्रोध—ये चार दूसरोंके प्रति कर्त्तव्य हैं। ये दसों प्रकारके धर्म साधारण लोगोंके लिए हैं। क्योंकि इनमेंसे किसी भी लक्षणमें हरि भजनका स्पष्ट निर्देश नहीं पाया जाता है। दूसरी बात यह है कि यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि इस दस लक्षणात्मक-धर्मका पालन करनेसे ही मानव जीवन सम्पूर्णरूपसे कल्याणमय हो जायगा। विष्णुधर्मोत्तरमें कहा गया है—

जीवितं विष्णु-भक्तस्य वरं पञ्च-दिनानि च।
न तु कल्प-सहस्राणि भक्ति-हीनस्य केशवे॥ (क)

कृष्ण भक्तिसे रहित मनुष्य, मनुष्य कहलानेका अधिकारी नहीं है। शास्त्रोंमें ऐसे भक्ति-रहित मनुष्यों की गणना दो पैरवाले पशुओंमें की गयी है—

'श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः।
न यत् कर्ण-पथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः॥ (ख)
[श्रीमद्भा० २।३।१९]

यहाँ उपर्युक्त प्रकारके लोगोंका कर्त्तव्य अथवा अकर्त्तव्य नहीं पूछा गया है, बल्कि प्रश्नकर्त्ताके प्रश्नका भाव केवल ऐसे लोगोंके व्यवहार या कर्त्तव्य

(क) इस संसारमें विष्णुभक्तका पाँच दिन रहना भी मंगलकारी है जब कि विष्णु भक्तिविहीन लोगोंकी इस जगत्में हजार कल्प तक विद्यमानता भी कल्याणप्रद नहीं; प्रत्युत् उससे जगत्का अमंगल ही होता है।

(ख) जिसके कानों में भगवान् श्रीकृष्णका नाम कभी प्रवेश न किया हो, वह मनुष्य विष्ठाभोजी घृणित सूकर, संसाररूपी मरुभूमिमें विचरणकारी तथा कंटकभोजी ऊँट और स्त्रीपद ताड़ित तथा बोझढोनेवाले गधेसे भी गया-बीता है।

-कर्मके निरूपण किये जानेसे है जो भगवद्भक्तिमार्ग का अवलम्बन कर चुके हैं।

जिन लोगोंने भक्तिपथका अवलम्बन कर लिया है,उन्हें तीन श्रेणियोंमें विभक्त किया गया है—कनिष्ठ मध्यम और उत्तम। जिन्होंने अभी केवल भक्ति मार्गमें प्रवेश मात्र किया है, किन्तु भक्त नहीं हो पाये हैं, उन्हें कनिष्ठ भक्त कहते हैं। उनका लक्षण यह है—

अर्च्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥
(श्रीमद्भा० ११।२।४०)

अर्थात् जो भगवान्की अर्च्चा—श्रीमूर्त्तिकी श्रद्धापूर्वक पूजा तो करते हैं, परन्तु भगवान्के भक्तों और दूसरे-दूसरे जीवोंकी विशेष सेवा-शुश्रुषा नहीं करते उन्हें प्राकृत अर्थात् कनिष्ठ भक्त कहते हैं। सिद्धान्त यह है कि श्रद्धा ही भक्तिका बीज है। श्रद्धापूर्वक भगवान्की पूजा करनेसे ही भक्ति होती है, यह बात ठीक है तथापि, भक्तकी सेवा-शुश्रुषा किये बिना केवल मात्र भगवान्की पूजाको शुद्ध भक्ति नहीं कहा जा सकता है, उससे भक्तिके पूर्ण स्वरूपकी अभिव्यक्ति नहीं होती अर्थात् भक्ति कार्यका अभी थोड़ासा द्वार-प्रवेश मात्र हुआ है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

यस्यात्म-बुद्धिः कुणपे त्रिधातुके
स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।
यत्तीर्थ-बुद्धिः सलिले न कर्हिचित्
जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः॥
(श्रीमद्भा० १०।८४।१३)

—जो मनुष्य वात, पित्त और कफ—इन तीन धातुओंसे बने हुए शवतुल्य शरीरको ही आत्मा—अपना "मैं," स्त्री-पुत्र आदिको ही अपना और मिट्टी, पत्थर, काष्ठ-आदि पार्थिव विकारोंको ही इष्टदेव मानता है तथा जो केवल जलको ही तीर्थ समझता है—भगवद्भक्तोंको नहीं, वह मनुष्य होने पर भी पशुओंमें भी नीच गधा ही है।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि अर्चा-मूर्त्तिमें ईश्वरकी पूजाके अभावमें भक्तिका प्रादुर्भाव नहीं होता, केवल वितर्कद्वारा हृदय शुष्क होता है, और भजनका विषय भी निर्दिष्ट नहीं होता तथापि श्रीमूर्त्तिकी सेवाके लिए शुद्ध-चिन्मय बुद्धिकी आवश्यकता है। उस जगत्में जीव ही चिन्मय वस्तु हैं। इनमें भी कृष्ण-भक्त जीव ही शुद्ध-चिन्मय हैं। भगवान् कृष्ण भी शुद्ध चिन्मय वस्तु हैं। चिन्मय वस्तुकी उपलब्धि करनेके लिए जड़, जीव और कृष्णके सम्बन्ध-ज्ञान का होना अनिवार्य है। इस सम्बन्ध-ज्ञानके साथ श्रीमूर्त्तिकी पूजा करनेके लिए कृष्ण-पूजा और भक्त-सेवा—दोनों एक साथ होनी चाहिए। जिस श्रद्धासे चिन्मय तत्त्वके प्रति ऐसा आदरका भाव होता है, उसे शास्त्रीय श्रद्धा कहते हैं। चिन्मय-तत्त्वका यथार्थ सम्बन्ध न जानकर जो श्रीमूर्त्तिकी पूजा की जाती है उसका आधार लौकिक-श्रद्धा है। अतएव वह भक्तिका प्रथम द्वार होने पर भी शुद्ध भक्ति नहीं है। शास्त्रोंमें भक्तिके द्वारतक पहुँचे हुए मनुष्योंका लक्षण इस प्रकार कहा गया है—

गृहीत-विष्णु-दीक्षाको विष्णुपूजापरो नरः।
वैष्णवोऽभिहितोऽभिज्ञैरितरोऽस्मादवैष्णवः॥

अर्थात् जो विष्णुमंत्रसे विधिवत् दीक्षित होकर विष्णुकी पूजा करते हैं उन्हें शास्त्राविद् पण्डितजन 'वैष्णव'की संज्ञा देते हैं। उनके अतिरिक्त सभी अवैष्णव हैं।

वंशानुक्रमसे जो लोग कुलगुरुको मानकर या लोगोंकी देखा-देखी लौकिक श्रद्धासे अनुप्राणित होकर विष्णु-मंत्रकी दीक्षा लेकर श्रीविष्णुकी अर्चा-मूर्त्ति-की पूजा करते हैं वे कनिष्ठ वैष्णव अर्थात् प्राकृत भक्त हैं। ये लोग शुद्ध भक्त नहीं हैं। इन प्राकृत भक्तोंमें 'छायाभक्त्याभास' प्रबल होता है। भक्त्याभास दो प्रकारका होता है—पहला प्रतिबिम्ब भक्त्याभास और दूसरा छाया भक्त्याभास। प्रति-बिम्ब भक्त्याभासकी गणना अपराधमें होनेके कारण इसमें वैष्णवता नहीं होती। छाया भक्त्याभासमें

वैष्णवताका कुछ-कुछ आभास होता है। प्राकृत भक्त प्रतिबिम्ब भक्त्याभासकी अवस्थासे परे होता है। यह छाया भक्त्याभास भी बड़े सौभाग्यसे प्राप्त होता है, क्योंकि यह भक्तिकी पूर्व अवस्था है और इससे भी क्रमशः मध्यम और उत्तम वैष्णव हुआ जा सकता है।

परन्तु जैसा भी हो इन लोगोंको शुद्ध भक्त नहीं कहा जा सकता है। ये लोग लौकिक श्रद्धाके साथ श्रीअर्चा-मूर्त्तिकी पूजा करते हैं और साधारण लोगोंके लिए कहे गए दस लक्षणात्मक धर्मके अनुरूप ही इन लोगोंका दूसरोंके प्रति व्यवहार होता है। भक्तोंके लिए शास्त्रोंमें जो निर्दिष्ट व्यवहार हैं, वे इनके लिए नहीं हैं। सबसे प्रमुख बात तो यह है कि अभक्तोंमें से भक्तोंको चुनना इनकी शक्तिसे परे होता है। यह अधिकार मध्यम कोटिके वैष्णवोंका है। श्रीमद्भागवतमें मध्यम वैष्णवोंका व्यवहार निरूपण करते हुए कहते हैं--

'ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेम-मैत्री कृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः॥
(श्रीमद्भा० ११।२।४६)

यहाँ पर जिस व्यवहारकी बात कही गयी है वह **नित्य-धर्मके** अन्तर्गतका व्यवहार है। यहाँ नैमित्तिक **और** संसारी व्यवहारोंकी बातें नहीं कही गई हैं। वैष्णव जीवनमें इसी व्यवहारकी आवश्यकता है। यदि अन्य व्यवहार इस नित्यधर्मगत व्यवहारके विरोधी न हों तो आवश्यकतानुसार ग्रहण किये जा सकते हैं।

वैष्णव व्यवहारके चार प्रकारके पात्र हैं—(१) ईश्वर, (२) ईश्वरके अधीन भक्त, (३) बालिश अर्थात् अतत्त्वज्ञ विषयी और (४) द्वेषी अर्थात् भक्तिका विरोध करनेवाले। इन चारों पात्रोंके प्रति क्रमशः प्रेम, मैत्री, कृपा और उपेक्षा करना ही वैष्णव-व्यवहार है, अर्थात् ईश्वरसे प्रेम, भक्तोंसे मित्रता, बालिशोंपर कृपा और द्वेषियोंके प्रति उपेक्षा ही वैष्णव-व्यवहार है।

[१] ईश्वरके प्रति प्रेम--अर्थात् सर्वेश्वर कृष्णके प्रति प्रेम। प्रेम शब्दका अर्थ 'शुद्धभक्ति'से है। भक्ति-रसामृतसिन्धुमें शुद्धभक्तिका लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है—

अन्याभिलाषिता-शून्यं ज्ञान-कर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

अर्थात् श्रीकृष्णकी सेवाके अतिरिक्त दूसरी-दूसरी कामनाओंसे रहित होकर तथा ज्ञान और कर्म आदिके प्रति स्वाधीन चेष्टाओंका परित्याग कर समस्त इन्द्रियों-द्वारा जो कृष्णका अनुशीलन किया जाता है—कृष्णकी सेवा की जाती है उसे उत्तमा भक्ति कहते हैं।

यह उत्तमा भक्ति मध्यमकोटिके वैष्णवोंके साधन, भाव और प्रेम दशा तक पायी जाती है। पहले कहे गए कनिष्ठाधिकारमें केवल श्रीमूर्तिकी श्रद्धापूर्वक पूजा करनेका लक्षण पाया जाता है। किन्तु उत्तमाभक्तिका उनमें कोई भी लक्षण नहीं पाया जाता। जिस दिन उनके हृदयमें उत्तमा भक्तिका लक्षण-समूह प्रकाशित हो पड़ेगा, उसी दिनसे उनकी गणना मध्यमाधिकारी वैष्णवोंमें होने लगेगी। इससे पूर्व उन्हें भक्ताभास या वैष्णवाभास ही कहा जायगा। कृष्णानुशीलन ही प्रेम है; परन्तु 'आनुकूल्येन' शब्द द्वारा कृष्णप्रेमके अनुकूल भक्तोंके प्रति मित्रता, अतत्त्वज्ञोंपर कृपा तथा भक्ति-विरोधी व्यक्तियोंकी उपेक्षा करना भी मध्यम कोटिके वैष्णवोंके लक्षण हैं।

[२] भगवान्के अधीन भक्तोंके प्रति मित्रता—जिन लोगोंके हृदयमें शुद्ध भक्तिका आविर्भाव हो चुका है, वे भगवान्के अधीन भक्त हैं। कनिष्ठाधिकारी स्वयं-भगवान्के अधीन शुद्ध भक्त नहीं हैं और वे शुद्ध भक्तोंका आदर-सत्कार भी नहीं करते। इसलिए मध्यम और उत्तम भक्त ही मैत्रीके पात्र हैं। श्रीचैतन्यचरितामृतमें कुलीनग्रामके भक्तोंके प्रश्नोत्तरमें श्रीमन्महाप्रभुजीने जिन उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ वैष्णवोंके सम्बन्धमें उपदेश दिये हैं, उन सबको मध्यम और उत्तमकोटिका वैष्णव समझना चाहिये। उनमेंसे कोई भी केवल अर्चामूर्त्तिका पूजक कनिष्ठाधिकारी नहीं है। केवल अर्चापूजा करनेवालोंके

मुखसे शुद्ध कृष्णनाम नहीं होता। उनका नाम छाया नामाभास होता है। मध्यमाधिकारी गृहस्थ वैष्णवोंको महाप्रभुजीने तीन प्रकारके वैष्णवोंकी सेवा करनेकी आज्ञा दी है। जिनके मुखसे एकबार कृष्णनाम सुनाई दे, जिनके मुखसे निरन्तर कृष्णनाम सुन पड़े और जिनको देखते ही स्वतः कृष्णनाम उदित हो-इन तीनों प्रकारके वैष्णवोंकी सेवा करनी चाहिए। जिनके मुखसे शुद्ध कृष्णनाम नहीं निकलता, ऐसे नामाभास करने वाले वैष्णवोंकी सेवा वैष्णव-सेवाके अन्तर्गत नहीं ली गयी है। केवल शुद्धनामाश्रयी वैष्णवोंकी ही सेवा करने योग्य है।

वैष्णवोंके तारतम्यानुसार सेवाका भी तारतम्य है। 'मैत्री' शब्दसे संग, वार्त्तालाप और सेवा--सभी समझना चाहिए। शुद्ध वैष्णवोंको देखते ही उनकी अभ्यर्थना करनी चाहिए तथा आदरपूर्वक उनके साथ वार्त्तालाप करनी चाहिए। उनकी आवश्यकताओंको भी जहाँ तक हो सके पूर्ण करना चाहिए। यह सब वैष्णव-सेवाके अन्तर्गत है। उनसे कभी विद्वेष नहीं करना चाहिए। भूलकर भी उनकी निन्दा नहीं करनी चाहिए। उनकी कुरूपतासे घृणा नहीं करनी चाहिए तथा बीमार देखकर अनादर नहीं करना चाहिए।

(३) बालिशोंपर कृपा—'बालिश' शब्दसे अतत्त्वज्ञ, मूढ़ या मूर्ख मनुष्य समझना चाहिये। किसी तरहकी शिक्षा न मिली हो, मायावाद आदि मत-मतान्तरोंमें प्रवेश न किया हो, तथा भक्ति या भक्तोंके प्रति विद्वेष करना न सीखा हो, फिर भी अहंता और ममता प्रबल होकर जिसे ईश्वरमें श्रद्धा नहीं करने देतीं, ऐसे विषयी मनुष्यको 'बालिश' कहते हैं। पढ़-लिखकर केवल पण्डित होने पर भी जिनमें ईश्वर विश्वासका अभाव है, वे भी बालिश हैं। कनिष्ठाधिकारी प्राकृत भक्त भक्तिके प्रवेशद्वार तक पहुँचने पर भी सम्बन्ध-तत्त्वको न जाननेके कारण जब तक शुद्ध भक्ति प्राप्त नहीं कर पाते, वे भी बालिश ही कहे जानेके योग्य हैं। सम्बन्ध तत्त्वको जानकर शुद्ध भक्तोंकी कृपासे जब उनकी रुचि शुद्ध हरिनाममें होगी, तभी उनका बालिशपन दूर होगा और वे मध्यम कोटिके वैष्णवोंमें गिने जायेंगे। ऐसे बालिशोंके प्रति मध्यम-वैष्णवोंके कृपारूप व्यवहारकी बहुत ही आवश्यकता है। अतिथि मानकर यथाशक्ति इनकी आवश्यकताओंको पूर्ण करना चाहिये। इतना ही नहीं बल्कि जिससे इनकी अनन्य भक्तिमें श्रद्धा उत्पन्न हो तथा श्रीहरिनामके प्रति उनकी रुचि पैदा हो—वैसा प्रयत्न करनेका नाम ही यथार्थ 'कृपा' है। अतत्त्वज्ञ होनेके कारण बालिश व्यक्ति थोड़ासा कुसङ्ग पाकर ही पतित हो पड़ता है। अतः उन्हें सर्वदा कुसङ्गसे बचाना चाहिये तथा उनको अपने साथ रखकर नाम माहात्म्य और सदुपदेश श्रवण कराना चाहिये। रोगी कभी अपनी चिकित्सा नहीं कर सकता। इसलिये उसकी चिकित्सा करनी चाहिये। जैसे रोगीका क्रोधपूर्ण व्यवहार क्षम्य है, बालिशोंके व्यवहार भी उसी प्रकार क्षम्य हैं। इसीका नाम कृपा है। बालिशोंमें बहुतसे भ्रम होते हैं। यथा, कर्मकाण्डमें विश्वास, कभी २ ज्ञानके प्रति झोंक, ईश्वरकी अर्चामूर्त्तिकी कामनासहित पूजा, योगमें श्रद्धा, सत्संगके प्रति उदासीनता, वर्णाश्रमके प्रति आसक्ति आदि अनेक प्रकारके भ्रम हैं। सङ्ग, कृपा और सदुपदेश द्वारा इन भ्रमोंके दूर होने पर कनिष्ठाधिकारी भी मध्यम कोटिके वैष्णव हो सकते हैं। जब ऐसे लोग भगवान्‌की अर्चामूर्त्तिकी पूजा करना आरम्भ कर दें, तो समझना चाहिये कि इन्होंने अपने कल्याणका बीज बो दिया है, अब इनमें कोई मतवादका दोष नहीं है और शीघ्र ही इनका कल्याण होनेवाला है। मतवादका दोष न होनेके कारण उनमें थोड़ी थोड़ी श्रद्धाकी गन्ध भी होती है। किन्तु जो लोग मायावादके विचारोंके अनुसार भगवान्‌की अर्चापूजा करते हैं, उनमें श्रीमूर्त्तिके प्रति तनिक भी श्रद्धा नहीं होती। वे लोग भगवान्‌के चरणोंमें अपराधी होते हैं। इसीलिये 'श्रद्धयेहते' पदका व्यवहार कनिष्ठाधिकारीके प्रति किया गया है। मायावादियोंका सिद्धान्त यह है कि—'परब्रह्म का कोई श्रीविग्रह नहीं होता, वे निराकार, निर्विशेष आदि हैं। निम्नाधिकारी साधकोंके लिए पर-ब्रह्मकी

काल्पनिक अर्चामूर्त्तिकी व्यवस्था की गयी है।' ऐसी अवस्थामें श्रीविग्रहके प्रति विश्वास ही कहाँ रहा ? इसलिए मायावादियोंकी मूर्त्तिपूजा और कनिष्ठाधिकारी वैष्णवकी श्रीमूर्त्तिपूजामें विशेष अन्तर है। कनिष्ठाधिकारी वैष्णव भगवानको सविशेष जानकर उनकी श्रीमूर्त्तिकी श्रद्धासे पूजा करता है। किन्तु मायावादी भगवान्‌को निर्विशेष मानकर उनकी श्रीमूर्त्तिको काल्पनिक और अनित्य मानता है। यही कारण है कि वैष्णवताका कोई अन्य लक्षण न होते हुए भी, मायावाद-दोषसे रहित होनेके कारण कनिष्ठ अधिकारीको 'प्राकृत-वैष्णव' का पद दिया गया है। मायावादसे रहित होना ही उनकी वैष्णवता है। इसीके बलपर साधु-कृपा द्वारा उनकी अवश्य ही धीरे-धीरे ऊर्ध्व-गति होगी। मध्यमाधिकारी वैष्णवोंको इन पर अवश्य कृपा करनी चाहिये। ऐसा होनेसे इनकी अर्चापूजा और हरिनाम शीघ्र ही विशुद्ध होकर (आभास धर्मत्व परित्यागकर) चिन्मयताको प्राप्त होंगे।

(४) द्वेषी मनुष्योंकी उपेक्षा—यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि द्वेषी मनुष्य कहते किसे हैं? और वे कितने प्रकारके होते हैं ? द्वेष एक प्रकारकी प्रवृत्ति है जिसे मत्सरता भी कहते हैं। प्रेमके ठीक विपरीत प्रवृत्ति का नाम 'द्वेष' है। केवल ईश्वर ही प्रेमके पात्र हैं; इन ईश्वरके प्रति प्रेमके विपरीत जो प्रवृत्ति होती है उसे द्वेष कहते हैं। द्वेष पाँच प्रकारका होता है—

(१) ईश्वरमें अविश्वास।
(२) ईश्वरको कर्मफलसे उत्पन्न स्वभाव-शक्ति मानना।
(३) ईश्वरके विशेष स्वरूपमें विश्वास न करना।
(४) जीवोंको ईश्वरके नित्यरूपके अधीन नहीं मानना।
(५) दयाशून्यता।

जिन लोगोंका हृदय इन द्वेष-प्रवृत्तियोंसे दूषित होता है, उन्हें शुद्ध भक्ति कभी प्राप्त नहीं हो सकती है। वे शुद्ध भक्तिके प्रवेश-द्वारस्वरूप—कनिष्ठाधिकारीकी अर्चाभक्तिसे भी रहित होते हैं। विषयासक्तिके साथ उक्त पाँच प्रकारके द्वेष रह सकते हैं। तीसरे और चौथे प्रकारके द्वेषोंके साथ कभी कभी आत्मघाती वैराग्य भी देखा जाता है। मायावादी संन्यासियोंका जीवन ही इसका उदाहरण है। इन द्वेषी व्यक्तियोंके प्रति शुद्ध भक्त कैसा व्यवहार करेंगे ?— उनके प्रति उपेक्षा करना ही कर्त्तव्य है।

मनुष्यके प्रति मनुष्यका जो व्यवहार होता है, उसे परित्याग करना ही उपेक्षा है—ऐसा समझना भूल है। अथवा द्वेषी व्यक्तिपर कोई विपत्ति पड़नेपर उसका दुःख दूर करनेका प्रयत्न नहीं करना चाहिए—यह भी ठीक नहीं है। गृहस्थ वैष्णवोंको लोक-समाजमें रहना पड़ता है। दूसरे लोगोंके साथ एकत्र वास करनेसे परस्पर सम्बन्ध हो जाता है; विवाहद्वारा बहुतोंके साथ बन्धुत्व स्थापन हो जाता है; वाणिज्य-व्यवसायमें अनेक लोगोंसे सम्बन्ध पैदा होता है; विषय संरक्षण और पशु-पालन आदि कार्यों में भी बहुतोंके साथ नाना प्रकारके सम्बन्ध जुड़ जाते हैं; एक दूसरे के प्रति हमदर्दी दिखलानेसे भी बहुतोंसे सम्बन्ध हो पड़ता है। इस प्रकार इन सम्बन्ध-स्थित व्यक्तियोंमें यदि द्वेष-भाव पाये जाँय तो इनके साथ गृहस्थ वैष्णवोंका कैसा व्यवहार होना उचित है ? उन्हें उन लोगोंकी उपेक्षा करनी होगी। किन्तु उपेक्षाका अर्थ यह नहीं है कि इनके साथ अपना समस्त व्यवहार बन्द कर दिया जाय। बल्कि उपेक्षाका तात्पर्य यह है कि बहिर्मुख लोगोंके साथ व्यवहारिक कार्योंको तो पूर्ववत् चालू रखना चाहिये, परन्तु जहाँ तक पारमार्थिक-व्यवहारका प्रश्न है, इस विषयमें इनका सङ्ग नहीं करना चाहिये। मान लो, अपने ही परिवारका एक व्यक्ति अपने कर्मानुसार द्वेषी स्वभावका हो जाय, तो क्या उसे परित्याग कर देना होगा ? कभी नहीं; अनासक्त होकर उसके साथ व्यवहारिक कार्योंको तो करना चाहिये, परन्तु पारमार्थिक विषयोंमें उसका सङ्ग नहीं करना चाहिये। यही उसकी उपेक्षा है। (क्रमशः)